जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

1907

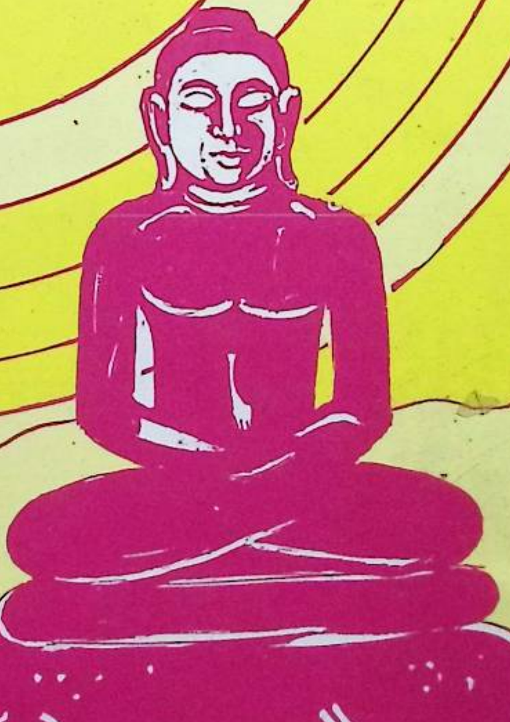

डॉ. प्रेमसुमन जैन

भारतीय साहित्य को इस देश की विभिन्न चिन्तन परम्पराओं ने पुष्ट किया है। जैन दर्शन और संस्कृति की परम्परा में विभिन्न भाषाओं में जो साहित्य प्रणीत हुआ है उसे जैन साहित्य के रूप में पहिचाना गया है। इस साहित्य में लोकजीवंन, विभन्न जातियाँ, नारी के विविध रूप, ऐतिहासिक घटनाओं के रंग, धार्मिक चिन्तन के विभिन्न आयाम आदि सूक्ष्मता से अंकित हुए हैं। राजस्थान का जन-जीवन और सारस्वत साधना जैन साहित्य के माध्यम से प्रकाश में आये हैं। इन सबके सम्वन्ध में प्रामाणिक रूप से और शोधपरक ललित शैली में प्रकाश डालती है यह पुस्तक।

'जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका' नामक प्रस्तुत कृति डॉ. प्रेम सुमन जैन द्वारा लिखित खोजपूर्ण निबन्धों के सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करती है। इससे भारत की वह धरोहर प्रकट होती है, जिसकी तरफ विद्वानों का ध्यान कम था। काव्यात्मक अभिव्यक्ति और संस्कृति अंकन को रेखांकित करने वाली है यह पुस्तक, जो डॉ. जैन के ग्रन्थ-चतुष्टय गुच्छक का चतुर्थ सार्थक पुष्प है।

963.
JAI
प्रेम

DONATED
By
Mr /Mrs: के॰ हिन्दी निदेशालय

1. पुस्तक का नाम:-
2. विषय :-
3. प्रकाशक का नाम :
और पता :
4. प्रकाशन वर्ष :-
5. मुद्रित मूल्य :-
6. बट्टा :-
7. क्रयादेश भेजने का प

जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

294·4
JAI

BHARATIYA VIDYA BHAVAN
Acc No 1963
Class No
PUBLIC LIBRARY - (DELHI)

संघी प्रकाशन

जयपुर उदयपुर

जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

डॉ. प्रेम सुमन जैन

सह- आचार्य एवं विभागाध्यक्ष

जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग

सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

BHARATIYA VIDYA BHAVAN
Acc No ..1963..
Class No ... .
PUBLIC LIBRARY - (DELHI)
SV12
B.V. 2014-2015
BVB N.D.

संघी प्रकाशन

जयपुर उदयपुर

प्रकाशक : विजेन्द्र कुमार संघी
संघी प्रकाशन
सी- 177 महावीर मार्ग
मालवीय नगर
जयपुर - 302017

शाखा : 255, बापू बाजार
उदयपुर - 313001

मूल्य : रूपये दो सौ पच्चीस

संघी प्रकाशन,जयपुर-उदयपुर द्वारा प्रकाशित/प्रथम संस्करण : 1995

सर्वाधिकार : लेखकाधीन

मुद्रक : रूपा ऑफसैट प्रिन्टर्स, जयपुर फोन : 512315

टाइप सेटिंग : Rahul Computers,
Malviyanagar, Jaipur.

JAIN SAHITYA KI SANSKRITIKA BHOOMIKA

by : Dr. PREM SUMAN JAIN/Udaipur/ 1995 Rs. 225.00

प्राथमिकी

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर वर्तमान युग तक जैन साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा है। अतः विभिन्न युगों के सांस्कृतिक परिवर्तनों का साक्षी जैन साहित्य है। इस साहित्य में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्रान्तीय भाषाओं का वह वाङ्गमय परिगणित है जो जैन दर्शन और संस्कृति से अनुप्राणित है। इस साहित्य में उपलब्ध सांस्कृतिक तथ्यों की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार्य है कि वे तथ्य जन-जीवन से जुड़े हुए हैं। उन तथ्यों को अंकित करने वाले अधिकांश लेखक साधक आचार्य एवं सन्त हैं। जैन साहित्य में वर्णित/अंकित संस्कृति राष्ट्र की धरोहर है। देश के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण के लिए वह अपरिहार्य है। उसके विभिन्न आयाम हैं। जन-जातियों का विवरण, ग्राम्य जीवन की छटा, नारी के विविध रूप, धार्मिक उदारता, ऐतिहासिक तथ्यों का विवरण, प्रान्तीय संस्कृति के चित्र, गणित एवं विज्ञान की शब्दावली, काव्यात्मक अभिव्यक्ति आदि अनेक आयामों से इस जैन साहित्य को देखने/परखने का विनम्र प्रयत्न इस पुस्तक के शोधलेखों में किया गया है।

राजस्थान में जैनविद्या के अध्ययन और जैन साहित्य के मूल्यांकन को विशेष रूप से ये निबन्ध रेखांकित करते हैं। संस्कृत के जैन साहित्य की कतिपय विशेषताएं इनमें अंकित हैं। पाण्डुलिपियों एवं ग्रन्थ-भण्डारों के सांस्कृतिक महत्व को भी यहां उजागर किया गया है। पुस्तक रूप में प्रथम बार प्रकाशित ये अनुसन्धान पूर्ण निबन्ध संक्षेप में किन्तु प्रामाणिक रूप से देश के सांस्कृतिक जीवन की बानगी प्रस्तुत करते हैं। जैन साहित्य के पठन-पाठन और उसकी सांस्कृतिक सामग्री का उपयोग करने की दिशा में सुधी पाठक और उदारचेता विद्वान अग्रसर हों तो इस पुस्तक के लेखक का श्रम सार्थक हो सकेगा। पुस्तक के प्रकाशक श्री विजेन्द्र संघी और प्रकाशन सहयोगी श्री प्राकृत ज्ञानभारती एज्यूकेशन ट्रस्ट, बैंगलोर के सहयोग के लिए आभार।

1, अगस्त, 1993 — **- प्रेम सुमन जैन**

प्राकृत ज्ञानभारती एजुकेशन ट्रस्ट

जैन मठ गैस्ट हाउस

170, 10 वाँ मेन रोड, दूसरा क्रास

राजमहल विलास एक्सटेंसन, बैंगलोर - 560080

फोन : 3341251, फैक्स : 633706

- प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विभिन्न आयामों के अध्ययन-अनुसंधान में सहयोग एवं मार्गदर्शन उपलब्ध कराने हेतु इस ट्रस्ट की स्थापना 1989 में जगद्गुरू कर्मयोगी स्वामी चारूकीर्ति जी भट्टारक, श्रवणबेलगोला की अध्यक्षता में की गयी है। ट्रस्ट के संचालन में प्राकृत मनीषियों एवं प्राकृतप्रेमी श्रेष्ठिजनों का सहयोग प्राप्त है।
- ट्रस्ट ने राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलनों के आयोजन का शुभारम्भ किया है। 1990 में बैंगलोर एवं 1993 में हैदराबाद में आयोजित प्राकृत सम्मेलनों की उपलब्धियाँ प्रेरणादायक हैं।
- प्राकृत साहित्य और संस्कृति के उन्नयन और अनुसंधान में समर्पित विद्वानों के सत्कार हेतु ट्रस्ट द्वारा "**प्राकृत ज्ञान भारती**" राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्रदान किये जाते हैं।
- ट्रस्ट के प्रकाशन विभाग द्वारा अब तक प्राकृत भारती स्मारिका, प्राकृत साहित्य कइपिडि, प्राकृत साहित्य की भूमिका, प्राकृत भाषा प्रवेशिके, श्री कुन्दकुन्दप्रशस्ति एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कतिपय पुस्तकें प्रकाशनाधीन हैं।

इस ट्रस्ट के उद्देश्यों के अनुरूप साहित्य प्रकाशन में सहयोग करना भी ट्रस्ट का कार्य है। अतः जैन साहित्य के मनीषी डॉ. प्रेम सुमन जैन द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक '**जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका**' के प्रकाशन में आंशिक अर्थ सहयोग प्रदान किया गया है। आशा है, इस पुस्तक से सभी वर्ग के पाठक ज्ञानार्जन करेंगे।

— मैनेजिंग ट्रस्टी

अनुक्रम

1. जैन साहित्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन	1-7
2. जन-जातियां एवं ग्राम्य जीवन	8-17
3. जन-कल्याणकारी संस्थाएँ	18-25
4. जैन साहित्य में अंकित नारी	26-35
5. भगवतीसूत्र में प्रतिपादित धार्मिक उदारता	36-44
6. प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि	45-51
7. ऋषभदेवचरित की तिथियों की समीक्षा	52-59
8. ऋषभचरितं की महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ	60-64
9. प्राकृत पाण्डुलिपियों का वैशिष्ट्य	65-70
10. कुवलयमाला में प्रतिपादित राजस्थान	71-79
11. राजस्थान का प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य	80-102
12. राजस्थान में जैनविद्या– अध्ययन	103-109
13. संस्कृत के जैन काव्यों का मूल्यांकन	110-115
14. पश्चिमी भारत का जैन संस्कृत साहित्य	116-122
15. संस्कृत जैन काव्यों पर कालिदास का प्रभाव	123-128
16. पाश्चात्य विद्वानों की जैनविद्या-सेवा	129-141

❑❑❑

प्रथम

जैन साहित्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन

देश की विभिन्न भाषाओं में जैन साहित्य उपलब्ध है। अतः उसमें विभिन्न प्रान्तों की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर वर्तमान युग तक जैन साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा है अतः विभिन्न युगों के सांस्कृतिक परिवर्तनों का साक्षी जैन साहित्य है। जैन साहित्य में उपलब्ध सांस्कृतिक तथ्यों की प्रामाणिकता इसलिये स्वीकार्य है कि वे जन-जीवन से जुड़े हुए हैं। केवल आदर्श या काल्पनिक उड़ानें उनमें नहीं हैं। वह दरबारी साहित्य नहीं है। उसके लेखक अधिकांश साधक आचार्य हैं, जिनकी कथनी-करनी की प्रामाणिकता उनके साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुई है।

विभिन्न आयाम :

ज़ैन साहित्य में वर्णित संस्कृति के विभिन्न आयाम हैं। उसमें दर्शन और आध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन है। सिद्धान्तों का विशद् प्रतिपादन है। मुनि एवं गृहस्थ-जीवन का विस्तार से वर्णन है। इस सबको प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न कथाओं, दृष्टान्तों एवं उपाख्यानों का मनोहारी चित्रण है। किन्तु इस सबके भीतर कुछ ऐसी सांस्कृतिक सूचनाएं भी हैं, जो अन्य भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। इतिहास जिनके सम्बन्ध में प्रायः मौन है उन्हीं तथ्यों की ओर जैन साहित्य के पाठकों का ध्यान आचार्यों ने आकर्षित किया है। इससे भारत के सांस्कृतिक विकास की सही जानकारी में मदद मिल सकती है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में कथावस्तु एवं पात्रों का चयन जन-जीवन में से किया गया है। अतः इस साहित्य में समाज के समृद्ध और शक्तिशाली व्यक्तियों का ही चित्रण नहीं है, अपितु सर्वहारा, दीन-हीन और उपेक्षित समझे जाने वाले उन व्यक्तियों के जीवन का भी चित्रण है, जो चरित्र एवं सौहार्द के धनी हैं। जैन लेखकों की इस उदार और सर्वग्राही दृष्टि के कारण जैन साहित्य में पहली बार सूक्ष्मता से ग्राम्य जीवन संस्कृति का चित्रण हो सका है। इससे भारतीय साहित्य कृत्रिमता और विलासी जीवन से बहुत हद तक मुक्त हुआ है। आंचलिकता को महत्व देने के कारण जैन साहित्य ने विभिन्न प्रदेशों की लोक संस्कृति की सुरक्षा की है। अनेक जातियों के जीवन-क्रम को नष्ट होने से बचा लिया

है। जैन कवियों ने जीवन के यथार्थ को बहुत नजदीक से देखा है। बाल्यावस्था यौवन-अवस्था एवं वृद्धावस्था को चित्रित करने वाले अनेक दृश्य जैन साहित्य में हैं। संस्कृत के महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में वृद्धावस्था का जो रूपक प्रस्तुत किया है, वह हृदयग्राही है।

जैन साहित्य में आत्महित एवं मोक्षप्राप्ति का अंतिम लक्ष्य सामने रखा गया है। उसके लिये कथावस्तु में आवश्यक परिवर्तन भी किये गये हैं। किन्तु इसके साथ ही जन-रुचि और जनहित को भी महत्व दिया गया है। जन-कल्याणकारी विभिन्न संस्थाओं का विवरण जैन साहित्य में है। जैन साहित्य के नायक भी प्रायः वे महापुरुष बने हैं, जो उदारवादी एवं प्रजावत्सल रहे हैं। अतः चाटुकारिता की प्रवृत्ति से साहित्य को बचाने में जैन कवियों का प्रमुख हाथ रहा है। वर्तमान में ऐसे गुणग्राही, साहित्यकार एवं लोकहितकारी, कर्तव्यनिष्ठ चरितनायक की तलाश के लिये जैन साहित्य ने महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किया है।

किसी भी साहित्य में संस्कृति के संवाहक उसके शब्द होते हैं। जैन साहित्य का एक यह महत्वपूर्ण पक्ष है कि उसमें लोक प्रचलित शब्दों और भाषा के प्रयोग को विशेष महत्व दिया गया है। इस कारण देश की उस शब्द-सम्पदा को जैन साहित्य ने सुरक्षित रखा है, जो मनुष्य के सांस्कृतिक विकास को अपने में छुपाये हुए है। भारतीय भाषाओं का इतिहास तब तक पूरा नहीं लिखा जा सकता जब तक जैन साहित्य का भाषात्मक विवेचन न किया जाये। इन सब पहलुओं पर चिन्तन-मनन किया जाना अपेक्षित है। पिछले पचास वर्षों में जैन साहित्य के कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। विश्वविद्यालयों में जैन ग्रन्थों पर शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। किन्तु अभी भी इस दिशा में नई दृष्टि से कार्य किया जाना शेष है।

ऐतिहासिक साक्ष्य :

भारतीय इतिहास और संस्कृति के मूल्यांकन हेतु विभिन्न प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया जाता है। उनमें से साहित्य का उपयोग एक समृद्ध माध्यम है, किन्तु भारतीय इतिहास और संस्कृति के लेखन में जितना उपयोग ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा के साहित्य का हुआ है, उतना जैन-परम्परा के साहित्य का नहीं हो पाया है। जबकि इस साहित्य में इतिहास और संस्कृति की प्रभूत सामग्री है। यद्यपि जैन-साहित्य की कुछ सामग्री का उपयोग इतिहास और संस्कृति के परिप्रेक्ष में कुछ विद्वानों के द्वारा किया गया है। फिर भी इन पचास वर्षों में जैन-साहित्य एक बहुत बड़ी मात्रा में प्रकाश में आया है; उसका उपयोग इस विषय में किया जाना अभी शेष है। अपनी परम्परा में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अपने देश और संस्कृति के इतिहास को जानना प्रत्येक समझदार नागरिक का कर्त्तव्य है। अपने पूर्वजों के इतिहास और जीवन से अनभिज्ञ रहना संकीर्णता है। इसी बात को एक नीतिकार ने कहा है :- "जो व्यक्ति अपने पूर्वजों के इतिहास से अनभिज्ञ है, वह उस कुलटा-पुत्र के समान है, जो यह नहीं जानता कि उसका पिता कौन है" -

स्वजातिपूर्वजानां तु यो न जानाति सम्भवम्।

स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पितृवेदक : ॥[1]

इतिहास के इसी महत्व और जैन-साहित्य की समृद्धि को ध्यान में रखते हुए जैन समाज के प्रमुख विद्वानों ने इस दिशा में कुछ आधारभूत कार्य किये हैं। पं. नाथूराम प्रेमी[2], पं. जुगलकिशोर मुख्त्यार, पं. परमानंद शास्त्री, पं. के. भुजवली शास्त्री, प्रो. पी.बी. देसाई[3], श्री बी.ए. सालेतोर, आदि विद्वानों ने अपने ग्रंथों में एवं शोधपूर्ण निबन्धों में जैन साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष को उजागर किया है। वर्तमान में भी कुछ विद्वान् इस कार्य में संलग्न हैं। किन्तु जैन साहित्य में इतिहास और संस्कृति की जितनी सामग्री उपलब्ध है, उसके व्यापक मूल्यांकन के लिए इस दिशा में व्यवस्थित और सामूहिक प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है।

जैन-साहित्य में जन-जीवन का यर्थाथ चित्रण हुआ है। जैन ग्रन्थकारों ने किसी महल में बैठकर साहित्य की रचना नहीं की है, अपितु उन्होंने अपने पैरों से व्यापक भू-भाग को स्वयं नापा है, तथा अपनी आँखों से जन-जीवन को समीप से देखा है। जैनाचार्यों ने अपने युग की स्थिति के अनुसार कुछ ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक कृतियों की रचना की है। इन ग्रन्थकारों ने ऐसे राजाओं और प्रभावी जनों को अपने ग्रंथों में सम्मिलित किया है, जो आदर्श पुरुष थे। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, वस्तुपाल, जगडू शाह, पेथड़शाह आदि इसी प्रकार के प्रभावी जन जैन-काव्यों में उल्लिखित हुए हैं। जैन-साहित्य की इसी प्रकार की प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल का यह मंतव्य है कि भारतीय इतिहास को सुरक्षित रखने में जैन-साहित्य सबसे अधिक प्रामाणिक स्रोत है, क्योंकि उसमें यथार्थ का चित्रण अधिक है। कुछ जैन साहित्य ऐसा है, जिसमें इतिहास की जो सूचनाएं मिलती हैं, वे अन्य स्रोतों में प्राप्त नहीं हैं। आठवीं शताब्दी के जैन-साहित्य में इस प्रकार के कई संदर्भ हैं। उसके बाद के जैन-साहित्य में भी इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। प्रद्युम्न चरित की प्रशस्ति के राजस्थान के परमारवल्लाल और गुहिल राजाओं के सम्बन्ध में जो सूचनाएं मिलती हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। जैन साहित्य से ही पता चलता है कि जैन-आचार्यों का प्रभाव भारत के विभिन्न राजाओं के ऊपर समय-समय पर बना रहा है। राजस्थान[4] और गुजरात[5] तथा दिल्ली के राजनैतिक इतिहास से यह बात प्रमाणित होती है। दक्षिण भारत के राजाओं का इतिहास तो जैन-साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा है।[6]

जैन-साहित्य में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक और सांस्कृतिक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला साहित्य कई प्रकार का है। ऐतिहासिक-काव्य, प्रबन्ध-साहित्य, ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ और पुष्पिकाएं, पट्टावलियां, गुरुवावलियां, विज्ञप्ति-पत्र, शिलालेख, मूर्तिलेख, तीर्थ-मालाएं आदि इसी प्रकार का साहित्य है। डा. गुलाबचन्द्र चौधरी ने जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास भाग6 में इस प्रकार के साहित्य का विस्तार से परिचय दिया है।[7] इस साहित्य के अतिरिक्त जैन-साहित्य के काव्य और कथा ग्रंथों में भी इतिहास और संस्कृति की प्रभूत सामग्री है। इस सामग्री के उपयोग से राजस्थान, गुजरात, मालवा और उत्तर भारत के इतिहास की कई समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं।[8] डा. ज्योतिप्रसाद जैन, अगरचन्द्र नाहटा, डा. दशरथ शर्मा[9] डा. गोपीनाथ शर्मा, श्री आर.सी. अग्रवाल, डा. के.सी. जैन आदि विद्वानों ने

जैन-साहित्य की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री का उपयोग अपने ग्रन्थों में किया है।

विभिन्न जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ[10] इतिहास और संस्कृति के अतिरिक्त समाज की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व की हैं। जैन समाज की विभिन्न जातियाँ और उनके रीति-रिवाजों के अध्ययन के लिए इन प्रशस्तियों में आधारभूत सामग्री है। कुछ बातों का पता पहली बार ही इन प्रशस्तियों से चलता है। गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह की कई उपाधियों का उल्लेख इतिहास के ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु वे उपाधियां कब और किस क्रम से उन्हें प्राप्त हुईं इसका पता जैन-ग्रन्थों की प्रशस्तियों से ही चलता है।

सांस्कृतिक मूल्यांकन :

जैन-साहित्य के ग्रन्थों की सामग्री कला की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व की है। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, डा. यू.पी. शाह तथा अन्य कला मर्मज्ञों ने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है।[11] साहित्य में विभिन्न जैन मंदिरों, मूर्तियों और चित्रकला आदि का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसके प्रमाण पुरातात्विक सामग्री में प्राप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से मध्यप्रदेश की जैनकला का मूल्यांकन प्रो. के.डी. वाजपेयी, श्री नीरज जैन, डा. भागचन्द्र जैन एवं डा. के.सी. जैन आदि विद्वानों ने किया है। राजस्थान में श्री आर.सी. अग्रवाल, डा. सत्यप्रकाश एवं श्री विजयशंकर श्रीवास्तव आदि विद्वानों ने कला के मूल्यांकन में जैन साहित्य का उपयोग किया है। जैन साहित्य में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें चित्रकला की पर्याप्त सामग्री है। सचित्र पाण्डुलिपियाँ इस दिशा में बहुत उपयोगी साबित हुई हैं। डा. मोतीचंद्र[12] एवं डा. सरयू दोषी आदि विद्वानों ने जैन-साहित्य में उपलब्ध चित्रकला का अध्ययन किया है। किन्तु अभी भी पर्याप्त सामग्री का उपयोग होना बाकी है। जैन-साहित्य में संगीत-कला के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। डा. प्रेमलता ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है, किन्तु यह क्षेत्र अभी अनछुआ जैसा ही है। रविषेण के पद्मचरित में ही संगीत सम्बन्धी सैंकड़ों सूचनाएं हैं।

जैन-साहित्य भारतीय भूगोल और गणित-विद्या के लिए भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। प्रो. मायाप्रसाद त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ डिवलपमेंट ऑफ जियोग्राफिक नॉलेज इन इन्सिएन्ट इंडिया में जैन साहित्य के भौगोलिक विवरण की सूची दी है। श्री अगरचंद नाहटा ने भी अपने एक लेख में जैन साहित्य के भौगोलिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है। जैन साहित्य के जिन ग्रन्थों का सांस्कृतिक अध्ययन विद्वानों ने किया है, उनमें भी भौगोलिक सामग्री प्रस्तुत की गई है। किन्तु जैन साहित्य में वर्णित भूगोल विषय पर व्यापक रूप से कार्य किये जाने की आवश्यकता है। जैन साहित्य में राजनीति सम्बन्धी भी पर्याप्त सामग्री है, जिससे प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की इस विषयक सामग्री का अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

जैनाचार्यों ने विभिन्न भाषाओं में और विभिन्न कालों में जैन-साहित्य लिखा है। अतः उनके ग्रन्थों में यद्यपि कुछ परम्परागत वर्णन हैं। किन्तु फिर भी ऐतिहासिक क्रम से

भारतीय इतिहास और संस्कृति का विकास जैन साहित्य से प्राप्त किया जा सकता है। प्राकृत-साहित्य जन-जीवन का प्रतिनिधि साहित्य है। आगम-साहित्य और उसके व्याख्या साहित्य में भारतीय संस्कृति सूक्ष्म रूप से अंकित हुई है। मौर्ययुग और गुप्तयुग का इतिहास प्राकृत-साहित्य के उपयोग किये बिना अधूरा है। डा. ए.एन. उपाध्ये, डा. हीरालाल जैन[13], पं. दलसुखभाई मालवणिया, डा. जगदीशचंद्रजैन[14], आदि विद्वानों ने इस साहित्य की सांस्कृतिक सामग्री को उजागर करने में अथक परिश्रम किया। प्राकृत के स्वतंत्र ग्रन्थों के भी कुछ सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किये गए हैं। डा. नेमिचंद शास्त्री[15], डा. के.आर. चंद्रा, डा. जे.सी. सिकदर, डा. बी.एम. कुलकर्णी, डा. बी.के. खडबडी आदि विद्वानों ने प्राकृत साहित्य के ग्रन्थों का अधययन प्रस्तुत कर प्राकृत-साहित्य की सांस्कृतिक समृद्धि को इतिहासकारों और कला मर्मज्ञों के सामने प्रकट किया है। प्राकृत का कुवलयमालाकहा नामक ग्रन्थ सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।[16] इसके विभिन्न पक्षों पर कई विद्वानों ने प्रकाश डाला है।

पूर्वमध्ययुग और मध्ययुग के इतिहास तथा संस्कृति की जानकारी के लिए अपभ्रंश साहित्य में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। डा. हीरालाल जैन, पं. परमानंद शास्त्री, डा. एच.सी. भायाणी, डा. देवेन्द्रकुमार जैन[17], डा. राजाराम जैन[18] आदि विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व को अपने ग्रन्थों तथा अनेक शोध निबन्धों में प्रकट किया है। भविष्यदत्तकहा से पता चलता है कि उस युग में भी अन्याय के विरुद्ध हड़ताल की जाने लगी थी। पउमचरिउ से ज्ञात होता है कि खाने-पीने की वस्तुओं में तब भी मिलावट होती थी। इसी ग्रन्थ से पता चलता है कि उसी समय लोक भाषा के शिक्षण के समय बारहखड़ी लोक-शैली से याद कराई जाती थी। इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य सांस्कृतिक बदलाहट के स्वर को स्पष्ट करता है। जीवन से संघर्ष करते हुए बदलते समाज की संस्कृति का चित्रण इस साहित्य में है।

संस्कृत में पर्याप्त जैन साहित्य लिखा गया है। डा. नेमिचंदशास्त्री, डा. हरीन्द्रभूषण जैन, प्रो. मोतीलाल सांडेसरा, प्रो. हंदिकी तथा पं. डा. पन्नालाल साहित्याचार्य, डा. श्यामकुमार दीक्षित[19], डा. गोकुलचंद्र जैन[20] आदि विद्वानों ने संस्कृत के जैन साहित्य के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व को स्पष्ट किया है। उत्तर गुप्तयुग और मध्ययुग के इतिहास तथा संस्कृति के लिए संस्कृत का जैन साहित्य कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस साहित्य से ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पं. कैलाशचंदशास्त्री[21] आदि विद्वानों ने जैन इतिहास को पुनर्जागृत किया है।

विभिन्न भाषाओं में प्राप्त इस जैन साहित्य के अतिरिक्त दक्षिण भारत की भाषाओं का जैन-साहित्य भी भारतीय इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। वहाँ के विद्वानों ने इतिहास और संस्कृति के निर्माण में जितना जैन-साहित्य का उपयोग किया है, उतना उपयोग देश के अन्य भागों के जैन-साहित्य का नहीं हुआ है। इसी तरह जैन ग्रंथ भंडारों में प्राप्त सामग्री तथा जैन लेखों का इस कार्य के लिए कम ही उपयोग हुआ है। डा. कस्तूरचंद्र कासलीवाल[22], डा. सोमानी, डा. विद्याधर जोहरापुरकर[23] आदि विद्वानों ने इस

दिशा में जो प्रयत्न किए हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इस कार्य की परम्परा अधिक श्रमसाध्य होने के कारण आगे नहीं बढ़ सकी है। ग्रन्थ-भंडारों की सुरक्षा, सर्वेक्षण और प्राप्त ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन के कार्य को प्राथमिकता देकर किया जाना अपेक्षित है।

शोध की दिशाएं :

इस सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि जैन साहित्य का मूल्यांकन इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से किया जाना नितांत आवश्यक है, तभी यह साहित्य भारतीय साहित्य और विश्व-साहित्य की कोटि में अपना स्थान बना सकेगा। इसके लिए जैन साहित्य के शोध की दिशाओं को निश्चित आकार देना होगा और व्यक्तिगत प्रयत्नों तथा अध्ययन को टीम-वर्क के साथ जोड़ना होगा। इस सम्बन्ध में निम्न दिशाओं पर चिंतन किया जा सकता है :-

1. **सामग्री-संकलन** - इतिहास, कला, समाज, भूगोल शिक्षा, गणित, राजनीति, विज्ञान आदि से सम्बन्धित जैन साहित्य से संकलित कर उनकी सन्दर्भ-सूची बनानी होगी। यह कार्य विभिन्न स्थानों पर हो सकेगा। किन्तु इस कार्य की योजना और रूपरेखा सम्मिलित रूप से तैयार करनी होगी।
2. **संकलित सामग्री का मूल्यांकन** - जैन साहित्य से जो सामग्री संकलित की जाय उसका विषय-विशेषज्ञों के द्वारा मूल्यांकन किया जाना चाहिए। तब स्पष्ट हो सकेगा कि जैन साहित्य के साक्ष्य कितने मौलिक और प्रामाणिक हैं।
3. **अप्रकाशित ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन** - इस कार्य के द्वारा सामग्री-संकलन और उसके मूल्याकंन में मदद मिल सकेगी।

संदर्भ

1. जैन, ज्योतिप्रसाद, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं, पृ. 3
2. प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास।
3. देशाइ, पी.बी., जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स।
4. जैन, के.सी., जैनिज्म इन राजस्थान।
5. साण्डेसरा, बी.जी., जैन आगम साहित्य में गुजरात।
6. जैन, ज्योतिप्रसाद, द जैन सोर्शेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इन्डिया।
7. चौधरी, गुलाबचन्द्र, जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 6।
8. चौधरी, गुलाबचन्द्र, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया फ्रार्म जैन सौर्शेज।
9. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज।
10. शास्त्री, परमानन्द, जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह।
11. घोष, अमलानन्द, जैन स्थापत्य एवं कला भाग, 13
12. मोतीचन्द्र, जैन मिनिएचर पेंटिंग्ज इन वेस्टर्न इण्डियां।
13. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।
14. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज।
15. शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन।

16. जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन।
17. जैन, देवेन्द्रकुमार, अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य।
18. जैन, राजाराम, रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन।
19. दीक्षित, एस.के., 13-14वीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्यों का अध्ययन।
20. जैन, जी.सी., यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन।
21. शास्त्री, के.सी., दक्षिण भारत में जैन धर्म।
22. कासलीवाल, के.सी., जैन ग्रन्थ भण्डाराज इन राजस्थान।
23. जोहरापुरकर, भट्टारक सम्प्रदाय।

❑❑❑

द्वितीय

जन-जातियां एवं ग्राम्य जीवन

भारतीय समाज में जातियों का विभाजन प्रायः चतुर्वर्ण जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र इन चार जातियों के अन्तर्गत विभिन्न जातियों का समावेश किया जाता रहा है। किन्तु नीतिशास्त्रों में वर्णित इन चारों जातियों के कार्य एवं प्रतिष्ठा समय-समय पर बदलती रही है।[1] भारत के प्राचीन साहित्य एवं इतिहास की सामग्री में जातियों के इस विकास-क्रम के उल्लेख प्राप्त हैं। जैन साहित्य ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग तक लिखा जा रहा है।[2] इस विशाल साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन तथा लोक-जीवन से अधिक रहा है।[3] अतः जैन साहित्य में जन-जातियों की संस्कृति का पर्याप्त वर्णन हुआ है। अभी इस दृष्टि से जैन-साहित्य का अध्ययन नहीं हुआ है। अतः जन-जातियों के प्रारम्भिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से जैन-साहित्य में शोध-कार्य की अधिक संभावना है।

भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह प्राकृत भाषा के आगम साहित्य में हुआ है।[4] यह आगम साहित्य लगभग एक हजार वर्ष की भारतीय संस्कृति को अपने में समेटे हुए है। इसका आधार-भूत अध्ययन डा. जगदीशचन्द्र ने अपने ग्रन्थ "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" में प्रस्तुत किया है।[5] इसी तरह के अन्य अध्ययनों की अभी नितान्त आवश्यकता है। प्राकृत के कुछ स्वतन्त्र कथाग्रन्थों का भी समाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन विद्वानों ने प्रस्तुत किया है।[6] उससे भी प्राकृत साहित्य में वर्णित भारतीय समाज का चित्र उजागर होता है। इन अध्ययनों से तथा जैन साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भारत की जन-जातियों आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत निबन्ध में संक्षेप में कुछ जन-जातियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टि से जांचा-परखा जा सकता है।

विभिन्न जातियां :

प्राचीन भारत में शूद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों ने विशेष अध्ययन किये हैं।[7] उसके आधार पर वर्तमान में जिन्हें हरिजन, अनुसूचित जनजाति आदि के नाम से जाना जाता है, उन्हें पहले शूद्र के अन्तर्गत गिना जाता था। मोटे तौर पर जो जातियां किसी भी कारण से

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के अन्तर्गत नहीं आ पाती थीं, उन्हें शूद्र जाति के अन्तर्गत गिना जाता था। कृषक, शिल्पी, मजदूर, अन्त्यज और मलेच्छ कही जाने वाली जातियां शूद्र के अन्तर्गत थीं। यद्यपि आगे चलकर पूर्व मध्य युग में ये जातियां क्रमशः अपनी स्थिति में सुधार कर रहीं थीं।[8] आर्थिक सम्पन्नता के कारण इन्हें कुछ सम्मान प्राप्त हो रहा था, किन्तु इनकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी।

जैन साहित्य में जातियों का विभाजन यद्यपि परम्परागत ढंग से इन चार वर्णों में हुआ है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु इनको प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभक्त किया गया है -(1) आर्य जातियां और (2) अनार्य जातियां। प्रज्ञापना (1.67.71) नामक प्राकृत आगम में वर्णित है कि आर्यों के छह भेद थे - क्षेत्र आर्य, जाति-आर्य, कुल-आर्य, कर्म-आर्य, भाषा-आर्य और शिल्पी आर्य। इनमें जाति-आर्य में छह जातियां थी - अम्बष्ठ, कलिन्द, विदेह, वेदग, हरित और चुंचुण। इनमें से अम्बष्ठ और विदेग निम्न जातियां थीं। कर्म-आर्यों में कुम्हार (कोलालिय) और पालकी ढोने वाले (णरवाहणिय) निम्न जातियां थीं। शिल्प-आर्यो में मशक बनाने वाले देयड़, रस्सा बंटने वाले वरुड़, चटाई वुनने वाले छबिय आदि निम्न जाति के कर्मकार थे। रामायण एवं बौद्ध साहित्य में भी इनमें से कुछ जातियों का उल्लेख है।[9]

अनार्य जाति के लोग आर्यों के अधीन रहते थे और प्रायः ये कृष्णवर्ण के होते थे।[10] प्राकृत के प्रसिद्ध कथाकार हरिभद्रसूरि ने [11] उन जातियों को जो, आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म कर्म का कुछ विवेक न हो, अनार्य या मलेच्छ कहा है। उद्योतनसूरि ने भी कुवलयमालाकहा में अनार्यों को पापी, प्रचण्ड और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ से रहित कहा है। उन्होंने लगभग 40 प्रकार की अनार्य जातियों का उल्लेख किया है, जिनको म्लेच्छ, अन्त्यज्ञ, कर्मकार एवं विदेशी इन चार जातियों में प्रमुख रूप से विभक्त किया जा सकता है।[12]

प्राकृत आगम के प्रसिद्ध निशीथसूत्र (16.26 आदि) में पांच प्रकार की अनार्य जातियों का उल्लेख है — विरूव, दसू, अणारिय, मिलक्खू और पच्चंतिय। अनेक वेष धारण करने वाले और विभिन्न जनभाषाओं को बोलने वाले लोग विरूव कहलाते थे। इस विरूव का आधुनिक शब्द वैरवा हो सकता है। क्रोधी और दांत से काट खा जाने वाले जंगली लोग दसू (दस्यु) कहलाते थे। आर्यभाषा को न समझने वाले, हिंसा आदि में रत लोग अनार्य कहे जाते थे। अव्यक्त वाणी बोलने वाले आदिवासी म्लेच्छ कहे जाते थे तथा गांव या नगर की सीमा के बाहर निवास करने वाले निवासी पच्चंतिय (प्रत्यंतिक) कहे जाते थे।[13] प्राकृत साहित्य के इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि उस समय की जन-जातियों के विशेष लक्षण इस प्रकार थे - विचित्र वेषभूषा, ग्रामीण बोली, हिंसक प्रवृत्ति, कुरूपता और एकान्तवास। ये प्रवृत्तियां थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी जन-जातियों में मिल जायेंगी।

जन-जातियां :

जैन साहित्य में मुख्य रूप से आर्य संस्कृति के विपरीत आचरण करने वालों को म्लेच्छ

कहा गया है। आठवीं शताब्दी तक इन म्लेच्छों का रहन-सहन अलग था। अतः इनके संगठन भी बन गये थे।[14] प्रश्नव्याकरणसूत्र तथा कुवलयमाला में कई म्लेच्छ जातियों के उल्लेख हैं। उनमें से कुछ जातियों का परिचय इस प्रकार है :

ओड्ड :– ओड्ड को आधुनिक पहिचान उड़ीसा की पिछड़ी जातियों से की जा सकती है। हुएनसांग ने इनको ओड कहा है, जो काले रंग के असभ्य लोग थे।[15]

चंचुय :– यह जाति भारत के सीमा प्रदेशों में निवास करती थी। वर्तमान में दक्षिण भारत की चेच्चुस नामक जाति से इसकी पहिचान की जा सकती है।[16]

मुरुंड :— प्राकृत के अतिरिक्त भी अन्य भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख हैं। इतिहास से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने शक और मुरुड़ों को हराया था।[17] किन्तु बाद में इस जाति के उल्लेख नहीं मिलते। अतः मुरूंड जन-जाति न होकर कोई विदेशी जाति रही होगी।

आरण्य :– जंगल में निवास करने के कारण जन-जाति का एक नाम आरण्य भी था। यह धनुर्धर एवं वीर जाति थी। आरण्य जाति के लोग शिकार करते थे। वे जंगली जड़ी-बूटियों को एकत्र कर उन्हें नगरों में बेचते थे।[18]

चरट :– म्लेच्छ जातियों में चरट नामक जाति भी थी। उसे आरण्यचर भी कहते थे,[19] जो उसके जंगल में विचरण करने का द्योतक है।

गोंड :– यह भी एक जनजाति थी, जिसे अनार्य कहा गया है।[20] नर्मदा तथा कृष्णा नदी के बीच में स्थित प्रदेश में इनका निवास बताया गया है।[21] मध्यप्रदेश में आज भी गोंड नामक जन-जाति है, जो जंगल की वस्तुओं से ही अपनी जीविका चलाती है।

किरात :– यह जाति प्राचीन भारत में प्रचलित जंगली जाति है।[22] म्लेच्छ जाति की यह एक उपजाति थी। किरातार्जुनीयम् नामक संस्कृत काव्य से किरातों की वेशभूषा स्पष्ट हो जाती है।[23] कुवलयमाला, यशस्तिलकचम्पू में किरात को शिकारी जाति के रूप में गिना है। किरात का दूसरा नाम चिलात भी मिलता है।[24] किसी वन में किरातों का राज्य होता था।[25]

शबर :– अनार्य जातियों में शबरों का प्रमुख स्थान था। जैन-साहित्य में शबर को असभ्य और जंगली जाति माना गया है।[26] शबर जाति के लोग दरिद्र होते थे। ठंड में भी उनके पास कपड़े नहीं होते थे। समराइच्चकहा में भिल्ल और शबर जाति को एक माना है।[27] शबरों की अलग पल्लि (गांव) होती थी, जिसका एक मुखिया होता था। शबर जंगल से गुजरने वाले पथिकों एवं सार्थो को लूट लेते थे। शबर चंडिका देवी की आराधना करते थे।[28] जंगल की जड़ी-बूटियों का इन्हें ज्ञान था। अतः शबर रोगों का उपचार भी करते थे। दक्षिण भारत की पहाड़ी जाति के रूप में शबर प्रसिद्ध थे। शबर कुछ विद्याओं के जानकार भी थे। उनकी शाबरी-विद्या शबर-वेश धारण करके ही सीखी जा सकती थी।[29]

पुलिन्द :-- प्राचीन साहित्य में पुलिन्दों का पर्याप्त उल्लेख है। पुलिन्द भी भीलों की ही एक जाति थी। किन्तु पुलिन्दों ने अपना सामर्थ्य बढ़ाकर अधिपति बनना प्रारम्भ कर दिया था। कुवलयमाला में पुलिन्द राजकुमार का भी उल्लेख है। किन्तु उसे राज्य सभा में

पर्याप्त आदर प्राप्त नहीं था।[30] पुलिन्दी दासियां भी राजदरबार में रखी जाती थीं।[31]

भील :— प्राचीन जन-जातियों में भील जाति के भी उल्लेख हैं। शबर, पुलिन्द, भिल्ल इन तीन के नाम प्रायः एक साथ मिलते हैं। तीनों ही जंगली जातियां थीं। इनमें थोड़ा अन्तर रहा होगा। कुवलयमाला में भिल्ल जाति की दो पल्लियों (गांवों) का वर्णन किया है, जिससे उनके क्रिया-कलापों और रहन-सहन का पता चलता है। भिल्लपति एक राजा के समान अपना शासन चलाता था। सह्य पर्वत में चिन्तामणिपल्लि थी, जो कुछ सभ्य भीलों का निवास-स्थान थी। किन्तु विन्ध्य पर्वत की म्लेच्छ-पल्लि असभ्य और जंगली भीलों की बस्ती थी।[32] प्राकृत साहित्य से ज्ञात होता है कि भील शिव के परम भक्त होते थे।[33] शबर और भिल्ल जाति के लोग सेना में भी काम करते थे। युद्ध में उनकी सेना सब से आगे रहती थी।[34]

इनके अतिरिक्त वनेचर, मातंग आदि भी जंगली जन-जातियां थीं।[35] इन सभी जन-जातियों का वर्तमान संदर्भ में अध्ययन किया जा सकता है। जैन साहित्य के इस प्रकार के उल्लेखों को ध्यान में रखकर भारतीय जन-जातियों के इतिहास और विकासक्रम को प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्राकृत साहित्य के मध्ययुगीन साहित्य में भी इन जातियों का उल्लेख है। कुछ अन्य नई जातियां भी इसमें सम्मिलित हुई हैं। यदि इस साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से मूल्यांकन किया जाय तो भारतीय समाज की विभिन्न जातियों के उद्‌भव और विकास का पता चल सकता है। प्राकृत साहित्य की दृष्टि जन-सामान्य के जीवन की ओर रही है। अतः उसने सूक्ष्मता से मनुष्य के जीवन को आंका है। समाज के किसी भी वर्ग के चित्रण में इस साहित्य ने संकोच नहीं किया है। अतः इसमें भारतीय समाज का सही प्रतिबिम्ब प्राप्त हो सकता है। समाज-शास्त्रियों और इतिहास-कर्ताओं का ध्यान प्राकृत साहित्य की ओर आकृष्ट करने के लिए प्राकृत की इस प्रकार के बहुमूल्य सामग्री को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति प्राकृत के विद्वान् कर सकते हैं।

ग्राम्य जीवन :

प्राकृत साहित्य जन-जीवन का साहित्य है। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग इस साहित्य में पात्रों के रूप में ग्रहण किये गये हैं। ग्राम्य जीवन की सहज अनुभूतियां प्राकृत साहित्य का विषय बनी हैं। किसी एक प्रदेश विशेष अथवा स्थान विशेष में यह साहित्य सीमित नहीं हुआ है। देश के विभिन्न प्रान्तों, गांवों एवं स्थानों का सजीव चित्रण इसमें हुआ है। अतः स्वाभाविक रूप से विभिन्न अंचलों का जन-जीवन प्राकृत साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है। इस साहित्य में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का कोई एक रूप नहीं है। उसमें विभिन्न स्थानों पर बोली जाने वाली प्राकृतों का मिश्रण है। क्षेत्रीय भाषाओं के व्यापक प्रयोगों से प्राकृत-साहित्य में आंचलिकता, का पुट अधिक है। इस साहित्य में 'देश्य' शब्दों के प्रयोग ने उसमें आंचलिकता के रंग को और गाढ़ा किया है।

आर्य भाषाओं के विकास क्रम में प्राकृत भाषा जन-भाषा होने के कारण बहुत प्राचीन है।[36] वैदिक भाषा में भी प्राकृत के तत्त्व विद्यमान हैं।[37] किन्तु साहित्य में प्रयोग

की दृष्टि से ई.पू. छठी शताब्दी से ईसा की 8वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषा का स्वर्णकाल माना जा सकता है। इस युग में प्राकृत भाषा ने मगध, शूरसेन, महाराष्ट्र, उत्तरी-पश्चिम भारत (पैशाच देश) आदि जनपदों की बोलियों के शब्दों को अपने में समेट लिया था। इन प्रदेशों के जन-जीवन का वर्णन भी प्राकृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुका था।[38] प्राकृत भाषा के विकास-क्रम में ईसा की लगभग छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा ने जन्म लिया। अपभ्रंश में आंचलिकता का पुट प्राकृत से अधिक है। देशी शब्दों की इसमें बहुलता है। अपभ्रंश को अभीरी, भाषा, देशी, अवहट्ट आदि नाम प्राप्त हुए हैं, जो उसके जनभाषा होने के द्योतक हैं।[39] अपभ्रंश के माध्यम से ही प्राकृत भाषा क्षेत्रीय भाषाओं और हिन्दी तक विकसित हुई है। मगही, भोजपुरी, उड़िया, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एवं दक्षिण भारत की भाषाओं के साथ प्राकृत-अपभ्रंश का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[40]

विभिन्न अंचलों का जीवन :

प्राकृत साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ जैन मुनियों द्वारा लिखे गये हैं। वे पैदल घूमकर सारे देश में विचरण करते थे। अतः उन्होंने विभिन्न अंचलों के जन-जीवन को निकट से देखा था।उसी का चित्रण उन्होंने प्राकृत साहित्य में किया है। विभिन्न स्थानों की विशेषताओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि गोल्लदेश में चैत्र के महीने में ठंड पड़ती है, कोंकणदेश में अधिक वर्षा होती है, ताम्रलिप्ति में मच्छर-डांसों की अधिकता है,[41] मरुस्थल में पानी की कमी रहती है और अकाल पड़ता रहता है,[42] इत्यादि।

विभिन्न स्थानों के लोगों के स्वभाव, रूपरंग, भाषा एवं गुणों के सम्बन्ध में भी प्राकृत साहित्य मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत करता है। 8वीं शताब्दी (779 ई.) की कुवलयमालाकथा में उद्द्योतनसूरि ने कहा है कि दक्षिण भारत की विजयपुरी (आधुनिक विनयनगरम्) में 18 देशों के व्यापारी एकत्र हुए।[43] लेखक ने उन सबकी विशेष पहिचान प्रस्तुत की है। यथा — 'मध्यदेश के निवासी व्यापारी न्याय, नीति, संधि-विग्रह में पटु थे, स्वभाव से अधिक बोलने वाले थे, 'तेरे मेरे आड' शब्दों को बोल रहे थे।' ऊंची तथा मोटी नाकवाले, स्वर्ण के समान रंगवाले, भारवहन करने वाले कीर देश (कुलु कांगड़ा) के व्यापारी 'सरि-पारि' शब्दों का उच्चारण कर रहे थे।[44] इस प्रकार का वर्णन विभिन्न स्थानों की आंचलिकता को रेखांकित करता है।

प्राकृत ग्रन्थों के लेखक जिस प्रदेश में अपनी रचना लिखते थे वहाँ के जन-जीवन को भी कथा के माध्यम से उसमें प्रस्तुत करते थे। कुवलयमालाकहा राजस्थान (जालौर) में लिखी गयी है। अतः इसमें राजस्थान के जीवन से सम्बन्धित कई तथ्य प्राप्त होते हैं। जैसे - मरुदेश में ऊँटों का समूह झूमकर चलता है।[45] मरुस्थली में प्यास से सूखे कंठवाले पथिक के लिए रास्ते के तालाब का पानी भी शीतल जल के समान होता है।[46] अकाल में लोगों को अपना जीवन चलाना कठिन हो जाता है। कुव. से सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि राजस्थान में 'चारण' एवं 'ठाकुर' जातियां 8वीं शताब्दी में भी अपनी प्रवृत्ति के लिये प्रसिद्ध थीं। सामन्ती प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी, जिसे ग्रन्थकार ने 'ओलग्ग' शब्द से व्यक्त किया है। विवाह के अवसर पर तब चार फेरे पड़ते थे, जो आज भी राजस्थान के

पोखरणा ब्राह्मणों में प्रचलित हैं। गांवों में लोकमण्डली नृत्य करने के लिए घूमती थी।[47] कथात्मक पटचित्रों का सूक्ष्म वर्णन कुव. में है, जो राजस्थान को पाबू जी की पड़, देवनारायण की पड़ आदि की प्राचीन परम्परा का द्योतक है।[48]

आंचलिक जीवन का चित्रण गांवों के जीवन में अधिक मिलता है। प्राकृत साहित्य में ग्राम्य-जीवन के अनेक चित्र उपलब्ध हैं। निशीथभाष्य में वर्णित गांव की सुबह का दृष्य देखने योग्य है — प्रांतःकाल होने पर गायें चरने चली जाती, फेरी वाले व्यापार को निकल जाते, लुहार अपने काम में लग जाते, किसान खेतों में चले जाते, मच्छीमार मछली पकड़ने निकलते, खटीक कसाईखाने पहुँचते, माली बाग में चले जाते और तेली अपने कोल्हुओं में तेल पेरने लगते।[49] खेती आंचलिक-जीवन का मुख्य आधार है। कृषि समबन्धी सूक्ष्म-विवेचन प्राकृत साहित्य में उपलब्ध हैं। एक चित्र देखें - कृषक बालिकाएं 'टिट्टि-टिट्टि' करके हरिणों को, लाठी मारकर सांड़ों को और सींग बजाकर सुअरों को भगाकर अपनी फसल की रक्षा करती थीं।[50] गांवों के आस-पास रहने वाली अनेक जातियों के उल्लेख प्राकृत साहित्य में हैं - भील, किरात, बारवर, द्रविड, सिंहल, पुलिन्द, शबर, टंकण, पक्कण, खस, मातंग, भोजिक आदि जन-जातियों के जीवन एवं नीति-रिवाजों का सूक्ष्म वर्णन इस साहित्य में है।[51] कई कर्मकार समूहों का उल्लेख भी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध है, जो समाज-शास्त्रीय अधययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[52]

अपभ्रंश साहित्य में लोक-जीवन सूक्ष्मता से चित्रित हुआ है। विलासवईकहा एवं भविसयत्तकहा लोक जीवन को अभिव्यक्ति करने वाली अपभ्रंश रचनाएं हैं। इनमें लोक-प्रचलित उपमानों, लोकोक्तियों, सूक्तियाँ और देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है। सामाजिक लोक-रीतियां और लोकाचारों की इनमें भरमार है। हेमशब्दानुशासन (8.4.352) से ज्ञात होता है कि गांव की वधुएं कौओं को उड़ाकर उनके माध्यम से पति तक अपने सन्देश पहुंचाती थीं। पति के आ जाने पर हर्ष से इतनी फूल जाती थी कि हाथों में चूड़ियां फंसकर टूट जाती थीं।[53] भविसयत्तकहा से पता चलता है कि पुत्र के परदेश गमन के समय माता बेटे के सिर पर दही, दूर्वा, अक्षत डालकर उसकी सुखद-यात्रा की कामना करती थीं (3.17)। विलासवईकहा में ऐसी लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है जो आज भी प्रचलित हैं।[54]

1. एक ओर नदी है और दूसरी ओर खाई (2.14)
2. सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे (2.21)
3. मरते समय चीटियों के पंख निकल आते हैं। (7.15)

प्राकृत साहित्य में भी ऐसी कई लोक कहावतें हैं।[55]

1. जो गुड़ देने से मर जाय उसे विष देने से क्या ?
2. रास्ते के पके बैरों को कौन छोड़ेगा ?
3. हाथ-कंगन को आरसी क्या ?
4. क्या बकरी के मुंह में कुम्हड़ा आ सकता है ?

आंचलिक शब्दावली :

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में आंचलिक जीवन के विविध चित्र आंचलिक शब्दावलि में अंकित किये गये हैं। इस साहित्य में प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो लोक में प्रचलित होने से रूढ़ हो गये थे। उनको भाषाशास्त्रियों ने 'देश्य शब्द' कहा है।[56] 12वीं सदी के आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' नामक ग्रन्थ में उस समय तक प्रचलित देशी शब्दों का संकलन किया है।[57] ये देश्य शब्द प्राकृत अपभ्रंश साहित्य के द्वारा प्रयोग में आने से आज भी सुरक्षित रह गये हैं। देश की विभिन्न भाषाओं एवं भागों में उनका प्रयोग होता है। इन शब्दों का विद्वानों के द्वारा विशेष अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।[58] देशीनाममाला के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं -

काहार (2.27) = कहार
कोलिओ (2.65) = कोलि, कोरी
खट्टिक्को (2.70) = खटीक
चंदिलो (3.21) = नाई
खुल्ल (2.74) = खोली, कोठरी
घग्घरं (2.107) = घाघरा
ओड्ढणं (1.1557) = ओढणी
कल्ला (3.41) = कलार (महुए की शराब बनाने वाला)
फग्गू (6.82) = फाग (होली)
साइअं (8.25) = साइत (मूहूर्त)

ओलुग्गो (1.164) = घरेलू सेवक
लगुवा (व्रज)
लघुआ (अवधी)
लाग (बुंन्देली)
ओलग (कन्नड़)

जोण्णलिआ (3.50) = जुणरी (व्रज)
जोन्हरी (अवधी)
जनरी (भोजपुरी)
जोणरी (राजस्थानी)
जुंआर

मम्मी (6.112) = मामी, मां
बोज्झओ (7.80) = बोझ, भार

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में हजारों ऐसे शब्द विद्यमान हैं जिनका प्रयोग देश के विभिन्न अंचलों में होता रहा है। आज भी क्षेत्रीय भाषाओं एवं हिन्दी भाषा में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग हो रहा है जो प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के शब्द हैं इससे यह स्पष्ट है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन केवल क्षेत्रीय जन-जीवन के अध्ययन के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु देश की भाषात्मक एकता को दृढ़ करने में भी इससे मदद मिल सकती है।[59] विभिन्न भाषाओं में प्रचलित प्राकृत के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं -

प्राकृत	अन्य भाषा	अर्थ
घडइ	घडै (राजस्थानी)	बनाता है
होसइ	होसी (राजस्थानी)	होगा

प्राकृत	अन्य भाषा	अर्थ
जांचइ	जांचै (राजस्थानी)	मांगता है
हेट्ठे	हेट्ठे (राजस्थानी)	नीचे
णवरा	नवरा (राजस्थानी)	बेकार (ठलुआ)
उण्डा	उण्डा गुजराती	गहरा
छोयरा	छोकरा गुजराती	लड़का
डब्ब	डाबु गुजराती	बांया
रन्न	रान गुजराती	जंगल
चंगेड़ा	चंगेरी बुंदेली	डलिया (टोकरी)
छेलि	छेरी बुंदेली	बकरी
ढोर	ढोर बुंदेली	पशु
तित्तो	तींतो बुंदेली	गीला
विहाण	भ्यानें बुंदेली	सुबह
उन्दर	उन्दीर मराठी	चूहा
गार	गार मराठी	पत्थर
जल्ल	जाल मराठी	शरीर का मैल
पद्दर	दादर मराठी	सीढ़ी

सन्दर्भ

1. घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया।
2. शास्त्री, नेमिचन्द्र, प्राकृतभाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी।
3. द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध - "प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति" चैनसुखदास अभिनन्दन ग्रन्थ, जयपुर
4. जैन साहित्य का बृहत्त इतिहास भाग 1-3
5. जैन, जे.सी. जैन, लाइफ एन ऐंशियेन्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई।
6 (क) चन्द्रा, के.आर., ए क्रिटीकल स्टडी आफ पउमचरियं
(ख) शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली।
(ग) जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन।
7. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, बीकानेर, पृ. 427
8. बुद्धप्रकाश, आस्पेक्टस आफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, पृ. 255
9. (क) रामायण (2.83-12 आदि)
(ख) दीधनिकाय 1, सामंयफलसुत्त (पृ. 44)

10. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ. 122 आदि ।
11. समराइच्चकहा, पृ. 348 एवं 905 आदि ।
12. विस्तार के लिए देखें - लेखक की पुस्तक - कुवसा.अ.पृ. 108 आदि ।
13. निशीथभाष्य, 16.5727-28 चूर्णी ।
14. शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 443, पृ. 4291
15. प्राचीन भारतीय स्थलकोश, प्रयोग, पृ. 242
16. जामखेडकर, कुवलयमाला - ए कल्चरल स्टडी, पृ. 120
17. फ्लिट्, भाग 3, पृ. 8
18. आदिपुराण (जिनसेन) 16-161
19. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. 155
20. समराइच्चकहा, 4 पृ. 348
21. आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश
22. समराइच्चकहा, 1, पृ. 55
23. किराता., सर्ग 12, श्लोक 40-43
24. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 2
25. यशस्तिलकचम्पू, प. 203 (उत्तरा.)
26. यादव, समराइच्चकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 105
27. समराइच्चकहा, 7 पृ. 688
28. वही, 6, पृ. 529
29. जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमाला का सां. अ., पृ. 241-42
30. वही, पृ. 316
31. ज्ञाताधर्मकथा, प्रथम अध्ययन ।
32. कुवलयमाला का सां. अ., पृ. 77, 78
33. दशवैकालिक (हरिभद्रवृत्ति), पृ. 208
34. वर्धमानचरितं, सीलापुर, 3-38
35. जैन, गोकुल चन्द्र, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 66
36. पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, वाराणसी, 1957
37. कत्रे, एस.एम. - प्राकृत लेग्वेंवेज एण्ड देयर कन्ट्रीव्यूसनस् टू इंडियन कलचर, बम्बई, 1945
38. जैन, पी.एस - 'प्राकृत साहित्य में लोक संस्कृति' नाभक लेख ।
39. श्रीवास्तव, वीरेन्द्र - अपभ्रंश भाषा का अध्ययन
40. Dandekar,R.N. and Ghatage, A.M. - प्रोसीडिंगस् आफ द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना, १९७०
41. जैन, जगदीश चन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. 234
42. जैन, पी.एस. 'कुवलयमाला में प्रतिपादित राजस्थान' नामक लेख, सम्बोधि, भाग 5, अंक 3-6, 1978 पृ. 31-38
43. दिट्ठा अणेय-देस-भासा-लक्खिए देस-वणिए ।
    इय अट्ठारस देसी-भासाउ पुलइऊण सिरिदत्तो । - कुवलयमाला, अनु. 256.23
44. णय-णीइ-संधि-विग्गह-पडुए बहु-जंपए य पयईए ।
    'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेसे य ।।-- कुव. पृ. 752.25
    उत्तुंग-थूल-घोणे कणयव्वण्णे य भार-वाहेय ।
    'सरि-पारि' जंपिरे रे कीरे कुमरो पलोएई ।। वही, 152.28
45. मरूदेसु जइसओ उद्दाम-संचरंत-करह-संकुलो । - वही, 134-33
46. मेहा ण मुयंति जलं सुक्कं तत्थेय तं धण्णं । -वही, 191-7
47. तम्मि य गामे एक्कं मड-पेडयं गामाणुगामं विहरमांणं संपत्तं ।

48. जैन, पी.एस, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, कुव - 56.9
49. निशीथभाष्य - 1,522. वैशाली, 1975, पृ. 277-81
50. वृहत्कल्पभाष्य पीठिका, 77, निशीथचूलिपीठिका, 12
51. जैन, जगदीश चन्द्र, प्राकृत नैरेटिव लिटरेचर - ओरिजिन एण्ड ग्रोथ, दिल्ली, 1981 पृ. 91-93
52. वही - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965, पृ. 145-51
53. वायसु उड्डावांतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
    अद्धा वलया महिहिगय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥
54. (i) एक्कहिं लिसी अच्छइ जडुविसालु ।
        अन्नहि वि वग्धु दाठा करालु ॥
    (ii) जिस सप्पु न् मरइ न लट्ठियावि ।
    (iii) अहवा खयकालि समुट्ठियाहं ।
        उड्ढंति य पंख पिपीलियाहं ॥
55. (i) मरइ गुडेणं चिय तस्स विसं दिज्जए किं व ।
    (ii) न हु पहि पक्कर बोरी छुहइ लोयाण जा खज्जा ।
    (iii) हत्थठियं कंकणयं को भण जोएह आरसिए ? - णाणंपंचपीकहा (1052 ई.)
    (iv) किं छालीए मुहे कुंभंडं माइ ?

    - आख्यानमणिकोश, (1134 ई.)
56. 'देश्य' शब्द के विस्तृत विवेचन कि लिए देखें -
    Shriyan, R.N., A critical study of Mahapurana of Pushpadanta, Ahmedabad, 1969, P. 9.48.
57. बनर्जी, मुरलीधर, देशीनाममाला आफ हेमचन्द्र, कलकत्ता, 1931
58. शर्मा, शिवमूर्ति, देशीनाममाला का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, जयपुर, 1980
59. जैन, पी.एस, प्राकृत-अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाएं, बम्बई, 1975

❑❑❑

तृतीय

जन-कल्याणकारी संस्थाएँ

जैन साहित्य में आत्महित और लोकहित इन दोनों के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन है। आत्मविकास की प्रक्रिया में व्यक्ति अनेक गुणों की साधना करता है। ध्यान, व्रत, ज्ञान आदि के द्वारा वह आत्मा के पुरुषार्थ को जगाता है। किन्तु उसके इन आत्महितकारी गुणों का पूर्ण विकास लोक में ही होता है। व्यक्ति के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास क्रमशः होता है, छलांग लगाकर नहीं। इसलिए वह समाज में रहते हुए पहले नैतिक गुणों की साधना करता है, फिर आत्मिक गुणों की। लोकहित का सम्पादन करते हुए आत्महित की ओर गमन जीवन की सही प्रक्रिया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए जैनाचार्यों ने अपने साहित्य में समाज-निर्माण के अनेक तत्त्वों का समावेश किया है। निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति-मार्ग को जैन साहित्य में प्रमुखता दी गयी है।[1]

पृष्ठभूमि :

समाज की संरचना में व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण घटक है। व्यक्ति जब तक अकेला विचरण करता है तब तक वह आत्मनिष्ठ रहता है। युगल हो जाने पर वह रागतत्त्व से युक्त होता है। दो युगल हों तो उसमें अनुकरणात्मक और स्पर्धा से युक्त जीवन पद्धति विकसित होती है। तीसरा युगल होते ही समाज का स्वरूप बनने लगता है। उसी के अनुसार आवश्यकताएँ, सुरक्षा और सद्भाव की प्रवृतियां विकसित हो जाती हैं। समाज के विकास की इस अवस्था का जैन साहित्य में एक मिथक द्वारा चित्रण किया गया है। भोगभूमि की युगल व्यवस्था को समाज व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है।[2] प्रेमतत्व समाज का आधार स्तम्भ है, जिसका विस्तृत विवेचन जैन साहित्य में हैं।

लोकहित सम्पादन के लिए समाज में अर्थतत्त्व भी आवश्यक है। समाज का भवन आर्थिक नींव पर निर्मित होता है। इसके लिए जैनाचार्यों ने षड्-आवश्यक कर्मों का विधान किया है।[3] इसके मूल में व्यक्तिगत उपलब्धि को समूहिक बनाने की भावना रही है। जैन परम्परा में प्रचलित कुलकर-व्यवस्था समाज की स्थापना की व्यवस्था है। आदिपुराण में जिनसेन ने स्पष्ट कहा है कि मनुष्यों को कुल की तरह व्यवस्थित कर उनकी जीवनवृत्ति का परिष्कार करने के कारण ये कुलकर कहलाते थे —

प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः ।

आर्याणां कुलसंस्त्यायकृते कुलकरा इमेः ।।[4]

इन कुलकरों ने निषेधात्मक, नियन्त्रणामक एवं कल्याणात्मक कार्यों के लिए समाज को प्रेरणा दी थी। चौदह कुलकरों ने समाज को चौदह कार्यों की शिक्षा दी थी।[5] यह घटना इस बात को सूचित करती है कि समाज विभिन्न गुणी व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न से चलता है और समाज में निर्भयता, आर्थिक स्वतन्त्रता, मैत्रीभाव तथा कल्याणकारी प्रयत्नों की नितान्त आवश्यकता है। कुलकरों एवं मन्वन्तरों [6] की पौराणिक विचारधारा ने भारतीय समाज के विकास को गतिशील किया है।[7]

जैन परम्परा में तीर्थंकरों के समवसरण की व्यवस्था का वर्णन है। इसका पौराणिक एवं धार्मिक प्रभाव कुछ भी रहा हो, किन्तु इसका समाज पर भी प्रभाव पड़ा। तीर्थंकर जिन गुणों की प्राप्ति व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा करते हैं, उनका लाभ वे समवसरण में सारे समाज को देते हैं। इससे व्यक्तिगत उपलब्धि का समाजीकरण का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है।[8] धार्मिक नेता अपनी स्वानुभूति से समाज को नैतिक बनाने का प्रयत्न करता है। शिक्षक या ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान से समाज को शिक्षित बनाता है। वैभवशाली श्रेष्ठिवर्ग व्यक्तिगत पुरुषार्थ से प्राप्त समृद्धि को विभिन्न लोकहितकारी कार्यों में व्यय कर सामाजिक-जीवन को उन्नत बनाता है। इसी तरह बलशाली और क्षमाशील वर्ग समाज को सुरक्षा प्रदान करता है। प्राचीन भारतीय समाज के इस लोकहितकारी स्वरूप का चित्रण विभिन्न युगों के जैन साहित्य में उपलब्ध है। समाजशास्त्रियों के द्वारा उसका सामाजिक मूल्यांकन यदि किया जाय तो समाज-निर्माण के कई तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं।

जैन साहित्य में प्राचीन परम्परा के प्रभाव से अनेक सामाजिक संस्थाओं के विवरण प्राप्त हैं। समाज की कुछ आधारभूत संस्थाएं हैं। विवाह, परिवार, जाति, वर्ण, श्रेणी आदि विभिन्न संस्थाओं के सम्बन्ध में जैन साहित्य से अच्छा प्रकाश पड़ता है। डा. जगदीश चन्द्र जैन, डा. नेमिचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों ने इस विषय में गहन अध्ययन प्रस्तुत किये हैं।[9] जैन साहित्य के कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी समाजशास्त्रीय मूल्यांकन विद्वानों ने किया है। इस साहित्य में आधारभूत सामाजिक संस्थाओं के अतिरिक्त समाज की कुछ धार्मिक संस्थाओं का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्विध संघ-व्यवस्था एक सामाजिक संस्था है जिसका स्वतन्त्र अध्ययन होना चाहिये। इसी तरह देवकुल, मंदिर, चैत्य, मठ, पाठशाला आदि भी सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। इनके साथ समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतीय समाज के विकास के अध्ययन के लिए जैन साहित्य की इस विषयक सामग्री की समीक्षा करना लाभदायक होगा।[10]

समाज की आधारभूत, धार्मिक एवं शैक्षिक संस्थाओं के अतिरिक्त समाज में कुछ ऐसी व्यवस्थाएं भी प्रचलित थीं, जिन्होंने लोकहित की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। बिना किसी भेदभाव के समाज की ये संस्थाएं जन-सामान्य को लाभ पहुंचाती रही हैं। इन व्यवस्थाओं को जन-कल्याणकारी संस्थाएं कहा जा सकता है। जैन साहित्य में इनके पर्याप्त उल्लेख हैं। किन्तु उनकी तरफ विद्वानों का ध्यान कम गया है। आज जनजाति-कल्याण

केन्द्र, धर्मशालाएं, सहकारी संस्थाएं, वृद्ध-संरक्षण केन्द्र, स्वास्थ्यकेन्द्र, प्याऊ, जनता-भोजनालय आदि कई लोकहितकारी संस्थाएं समाज में कार्यरत हैं। प्राचीन भारतीय समाज में भी लोकहित के ये कार्य होते थे, जिनका विरवण जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिया है। पूर्वमध्ययुग के जैन साहित्य में निम्नांकित जन-कल्याणकारी संस्थाओं का विवरण प्राप्त है -

1. – प्रपा (पबा, प्याऊ)
2. – सत्रागार (निः शुल्क भोजनशाला)
3. – मंडप (आश्रयस्थान, धर्मशाला)
4. – आरोग्यशाला (औषधिदान)
5. – सार्थ (यातायात-सुविधा, आजीविका-दान)
6. – ग्रन्थभण्डार (ज्ञानदान, ज्ञानसुरक्षा)

प्रपा :

जैन आगमों के टीका साहित्य में कहा गया है कि स्थलमार्ग से यात्रा करने वाले यात्री अपनी थकान मिटाने के लिए कई स्थानों में ठहरते थे। उनमें एक स्थान प्रपा भी थी। अनुयोगद्वारचूर्णि में प्रपा का अर्थ विश्राम-स्थल किया गया है।[11] बृहत्कल्पभाष्य में आगमन-गृह, ग्रामसभा, प्रपा और मन्दिर का उल्लेख है, जो पथिकों के विश्राम-स्थल थे।[12] प्रपा में पथिकों के लिए पानी और नास्ते की व्यवस्था होती थी। थकान मिटाने के लिए छायादार वृक्ष अथवा झोपड़ी आदि भी उपलब्ध होती थी। बाणभट्ट के हर्षचरित के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रपा वास्तव में एक अच्छी प्याऊ थी। किसी बावड़ी अथवा कुए के पास पेड़ों के झुरमुट में इसे स्थापित किया जाता था, जो प्रमुख मार्ग पर विश्राम-स्थल बन जाता था।[13] बाणभट्ट ने कहा है कि इन प्रपाओं में पानी रखने की विशेष व्यवस्था होती थी। पानी के साथ लाल शक्कर भी यात्रियों को दी जाती थी।[14]

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में प्रपा, मंडप सत्रागार आदि कल्याणकारी संस्थाओं को दान देने की परम्परा का वर्णन किया है।[15] ग्रीष्म ऋतु में प्रपाओं में अधिक भीड़ रहती थी। वर्षा प्रारम्भ होते ही उनमें अधिक सुविधाएं जुटा दी जाती थीं।[16] ये प्रपाएं सामाजिक और सार्वजनिक स्थान होने के कारण सूचना-केन्द्र का भी काम देती थीं। राजाज्ञा की घोषणा यहां करायी जाती थीं।[17] समाज में जनता को पानी उपलब्ध कराना समृद्ध लोग अपना कर्तव्य समझते थे। कूप, तालाब, वापी और प्रपा को दान देकर संचालित करना कई लोगों का परम धर्म था।[18] उत्तराध्ययनटीका से ज्ञात होता है कि प्रपा में परिब्राजकों के लिए पर्याप्त अन्नपान दिया जाने लगा था।[19] धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी[20] एवं सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू [21] में प्रपा की व्यवस्था होने का उल्लेख किया है। लम्बी यात्रा के बीच में प्रपा अथवा बावड़ी की व्यवस्था आधुनिक युग तक होती रही है। उदयपुर से चित्तौड़ जाने के पैदल रास्ते में सात प्रसिद्ध बावड़ियाँ स्थापित थीं।

सत्रागार :

सत्रागार भी प्रसिद्ध सड़कों के किनारे तथा प्रमुख स्थानों पर स्थापित होते थे। श्रेष्ठी और दानी लोगों के दान से इनका संचालन होता था। सत्रागारों में पथिकों को निःशुल्क भोजन दिया जाता था। भोजनदान की परम्परा भारतीय समाज में अतिप्राचीन है।[22] बौद्ध एवं जैन साधु भोजन के लिए समाज पर आश्रित हैं। उनको आहार-दान देना श्रावक का दैनिक नियम था।[23] अतः इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए प्रारम्भ हो गयी थी। इसके लिए घरेलू रसोई के अतिरिक्त कई सामाजिक भोजनशालाएँ प्रारम्भ हो गई थीं, जो राहगीरों, साधुओं एवं निराश्रितों के लिए जीवनाधार थीं।

प्राकृत साहित्य में निःशुल्क भोजनशाला के लिए कई शब्दों का प्रयोग हुआ है। ज्ञाताधर्मकथा तथा निशीथसूत्र में ऐसी एक महानसशाला का उल्लेख है, जिसमें अनेक प्रकार का भोजन साधु सन्तों, अनाथों, भिखारियों और पथिकों को बांटा जाता था।[24] इस महानसशाला के साथ पुष्करिणी, वनखण्ड, चित्रसभा, चिकित्साशाला एवं अंलकार-सभा भी थी, जो जन-समाज के उपयोग के लिए थीं।[25] बृहत्कल्पभाष्य में ऐसी भोजन-व्यवस्था को संखडि और भोज्य कहा है, जो एक दिन अथवा कई दिन तक चलने वाली होती थीं।[26] पालि में इसे संखति कहा गया है।[27] इस संखडि में भोजन पाने वालों की बहुत भीड़ लगी रहती थी। आगे चलकर संखडि एक विशेष प्रकार का दोषयुक्त उत्सव हो गया था। इसके सम्बन्ध में डा. जगदीश चन्द्र ने विशेष प्रकाश डाला है।[28]

बुधस्वामि के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की सानुदास की कथा से ज्ञात होता है कि पाण्ड्य देश के मदुरा नगर के बाहर एक सत्रागार था।[29] वहां पर यात्रियों की सब प्रकार से सेवा की जाती थी, जिससे उनकी थकान दूर हो जाय। इस सत्र का सत्रपति होता था, जो व्यापारियों की समस्याओं को यथासंभव दूर करने का प्रयत्न करता था अन्य सत्रागारों से भी सत्रपति सम्बन्ध रखता था। इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि जैन साहित्य में वर्णित सत्रागार मध्ययुग की सराय जैसे थे।[30] कुवलयमाला के सन्दर्भ से स्पष्ट है कि सत्रागार में पथिकों को निःशुल्क भोजन दिया जाता था।[31] इनका संचालन समृद्ध व्यापारी लोग करते थे।[32] किन्तु प्रबन्धचिंतामणि से ज्ञात होता है कि सत्रागार प्रजापालक राजाओं द्वारा बनवाये जाते थे।[33]

मंडप :

भारतीय समाज की लोक-कल्याणकारी संस्थाओं में मंडप का विशेष महत्व था। प्रपा से पानी की व्यवस्था हो जाती थी और सत्रागार से निःशुल्क भोजन की, किन्तु पथिकों के लिए रात्रि व्यतीत करने अथवा विश्राम करने के लिए भी प्राचीन समाज ने कुछ व्यवस्थाएं की थीं। दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमतम्[34] में एक राहगीर के ठरहने की समस्या का जो चित्रण किया है, वह उसकी दुर्गति का परिचायक है। राहगीर को रात्री में अभय, सुरक्षा और विश्राम मिल सके इसके लिए समाज ने ऐसे विश्राम-स्थलों की व्यवस्था की थी।

प्राचीन समाज में राहगीरों के लिए जो विश्राम-स्थल होते थे उन्हें ऋग्वेद में प्रपथ कहा गया है।[35] अथर्ववेद में आवसथ शब्द का प्रयोग हुआ है।[36] डा. मोतीचन्द्र ने इन

विश्रामालयों का उल्लेख किया है।[37] जातक साहित्य में इनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। वहां ऐसी धर्मशालाओं को सभा कहा गया है। राज्यों के सीमान्त पर ये सभाएं बनी हुई होती थीं।[38] नगर का फाटक बन्द हो जाने पर भी यात्री इन सभाओं में रात्रि व्यतीत कर सकता था।[39] एक जातक से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की सभा को बनवाने में न केवल पुरुषों, अपितु स्त्रियों का भी सहयोग रहता था। सभा में यात्रियों के सोने-बैठने के लिए चौकी और पानी की व्यवस्था होती थी। छाया के लिए पेड़ और सुरक्षा के लिए फाटकदार चाहारदीवार होती थी।[40]

जैन साहित्य में इन सभाओं को ग्रामसभा तथा आगमनगृह कहा गया है, जिनमें सभी तरह के यात्री ठहरते थे।[41] साध्वियों को इन आगमनगृहों में ठहरने का निषेध था। मन्दिर भी यात्रियों के ठहरने का प्रमुख स्थान था।[42] कुवलयमाला में प्रपा के साथ मंडप को दान देने का उल्लेख है। संभवतः इस समय तक प्रपा, मंडप और सत्रागार ये तीनों ही एक साथ बनने लगे थे, जिससे यात्रियों को सभी सुविधाएं साथ में मिल जाये। बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त सभा शब्द और प्राकृत साहित्य का मंडप शब्द दोनों मिलकर सभा-मंडप के रूप में प्रचलित हो गया है, जो आतिथ्य के काम आता है। उद्द्योतनसूरि ने अनाथमंडप का वर्णन किया है, जिसमें रोगी, विकलांग, परदेशी, व्यापारी, तीर्थयात्री, पत्रवाहक आदि लोग यात्रा के दौरान ठहरते[43] थे। अनाथ बच्चों का भी वहां ठिकाना था। ऐसे कल्याणकारी मंडपों का नाम शिवमंडप (कल्याणकारी मंडप) भी पड़ गया था। मरुकच्छ नगर के चौराहे पर एक शिवमंडप था, जिसमें अकेली राहगीर स्त्रियां भी ठहर सकती थीं।[44] जैन साहित्य में ऐसी धर्मशालाओं के लिए वसति शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[45]

आरोग्य-शाला :

सम्राट अशोक ने अपने शिलालेखों में चिकित्सालयों की व्यवस्था का उल्लेख किया है।[46] ज्ञाताधर्मकथा में श्रेष्ठियों द्वारा चिकित्साशाला खुलवाने का उल्लेख है।[47] कुवलयमाला में कहा गया है कि नगर के सेठ आरोग्यशालाएं चलाते थे। औषधिदान की जैन साहित्य में विशेष प्रतिष्ठा थी।[49] प्राकृत साहित्य में औषधि विज्ञान का विस्तृत विवेचन है।[50]

सार्थ :

प्राचीन भारतीय समाज में सार्थ एक महत्वपूर्ण संस्था थी। यातायात के प्रारम्भ से लेकर मध्ययुग तक सार्थ ने भारतीय समाज को बहुत प्रभावित किया है।[51] व्यापारी समाज ने सार्थ जैसी महत्वपूर्ण व्यवस्था के द्वारा समाज के अनेक उत्साही युवकों को देशान्तर की यात्रा करायी है। उन्हें आजीविका प्रदान की है। उनमें पुरुषार्थ जगाया है। सार्थ यात्रा करने वाले साधु-सन्तों तीर्थयात्रियों, विद्यार्थियों एवं अन्य सामान्य व्यक्तिओं के लिए एक बहुत बड़ा सहारा था। सार्थ एक तरह से यातायात के लिए पूरे समाज का पथ-प्रदर्शक रहा है। अभय, सुरक्षा, आजीविका, पूंजी, मार्गदर्शन आदि के लिए सार्थ एक निरापद सहारा था। ज्ञाताधर्मकथा, विपाकसूत्र, समराइच्चकहा, तिलकमंजरी, रयणचूडरायचरियं, आरामसोहाकहा, भविसयत्तकहा[52] आदि जैन साहित्य के ग्रन्थों में सार्थ के स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्यों के

सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त है। इस हितकारी सामाजिक संस्था का सर्वांगीण मूल्यांकन अभी किया जाना शेष है। इसके अध्ययन से भारतीय समाज के स्वरूप पर नया प्रकाश पड़ सकता है।

ग्रन्थ-भण्डार :

समाज में जनहित के विकास के लिए कई संस्थाओं ने काम किया है। शिक्षा के क्षेत्र में पाठशाला, गुरुकुल, उपासरे आदि महत्वपूर्ण केन्द्र थे। किन्तु ग्रन्थभण्डार जैसी सामाजिक संस्था ज्ञान की सुरक्षा के साथ-साथ सामाजिक उत्थान की कई प्रवृत्तियों में अग्रणी रही है। इतिहास की दृष्टि के ग्रन्थ-भण्डारों में समाज की कई जातियों, परिवारों, रीतिरिवाजों एवं राजाओं की जीवन-पद्धति का इतिहास छिपा हुआ है। साहित्यक दृष्टि से ये ग्रन्थ-भण्डार कई प्रवृत्तियों के जनक रहे हैं। लिपि एवं लिपिकार का इतिहास ग्रन्थ-भण्डारों के बिना अधूरा है। कितने ही लोगों को इन भण्डारों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त हुई हैं।[53] आजीविका मिली है। अतः जैन साहित्य में जिन ग्रन्थ-भण्डारों का विवरण प्राप्त है तथा जो आज भी विद्यमान हैं, उन सबका समाज-शास्त्रीय दृष्टि से मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है।

इस प्रकार जैन साहित्य में वर्णित इन जन-कल्याणकारी संस्थाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि जैनचार्यों ने अपनी दार्शनिक परम्परा से स्वीकृत दान की महिमा का कई अर्थों में विस्तार किया है। आहारदान की व्यापकता के अन्तर्गत समाज में प्रपाओं और सत्रागारों की स्थापना के द्वारा जनसामान्य की भूख-प्यास के निवारण का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य की यायावर प्रवृत्ति को गतिशील रखा गया है। सभा, मण्डप, आगमनगृह आदि की व्यवस्था द्वारा राहगीरों को सुरक्षा प्रदान की गयी है। यह अभयदान का विस्तार है। आरोग्यशालाएँ खुलवाकर मनुष्य के तन-मन को स्वस्थ रखा गया है, जिससे वह पुरुषार्थ की साधना कर सके। सार्थ की व्यवस्था उसे आर्थिक स्वतन्त्रता और आवागमन की निश्चिन्तता प्रदान करती है। ग्रन्थभण्डारों का प्रवर्तन राष्ट्र की धरोहर की सुरक्षा के प्रति एक सजगता है। साथ ही जन-जीवन के लिए साक्षरता-अभियान भी। शास्त्रदान की भावना का इससे बढ़कर और क्या उपयोग होगा ? जैन साहित्य में वर्णित इन परोपकारी संस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन एक ओर हमें मध्ययुगीन समाज की समृद्धि और लोक-चेतना से परिचित कराता है तो दूसरी ओर वर्तमान युग के लिए समाज की समृद्धि और धार्मिक भावना के वास्तविक उपयोग के लिए पथप्रदर्शन भी कराता है।

सन्दर्भ

1. संधवी, पं. सुखलाल, जैन धर्म का प्राण, पृ. 56-59
2. जैन, डा. हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
3. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि, जैन आचार, सिद्धान्त और स्वरूप, उदयपुर
4. आदिपुराण (जिनसेन), 3-211
5. वही, 3-233-37
6. भागवतपुराण, 2, 7, 39

7. फतेहसिंह; भारतीय समाजशास्त्र-मूलाधार, पृ. 136
8. शास्त्री, नेमिचन्द्र; आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 140
9. जैन, जगदीशचनद्र; जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. 221-233
10. संगवे, विकास; ए सोसल सर्वे आफ जैन कम्युनिटी, बम्बई।
11. जैन, जगदीशचन्द्र; प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ. 260
12. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 2486
13. हर्षचरितम् (बाणभट्ट) पृ. 227-230
14. अग्रवाल, वी. एस.; हर्षचरित - एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 184-85
15. सूइज्जंति जत्थपडिप्पवा-मंडव-सत्तायारेहिं दाणवईत्तणाइं-कुवलयमाला 31.14
16. वही, 147.25
17. वही, 203-10
18. वही, 205-3
19. उत्तराध्ययनटीका (शान्तिसूरि), 13 पृ. 188
20. तिलकमंजरी (धनपाल), पृ. 117
21. प्रपानिवेशैः सरः प्रदेशैः - यश. पृ. 200
22. जैन धर्म में दान - एक समीक्षात्मक अध्ययन
(उपाध्याय पुष्कर मुनि) पृ. 291-325
23. वसुनंदिश्रावकाचार, भूमिका
24. एगं महं महाणससालं करावेह — बहुणं समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगाणं परिभाएमाण विहरंति - ज्ञाताधर्मकथा, 13 पृ. 344
25. भारिल्ल, शोभाचन्द्र; ज्ञाताधर्मकथा, आगम प्रकाशन समिति व्यावर, पृ. 342-46
26. बृहत्कल्पभाष्य, 1, 3141-42
27. मज्झिमनिकाय, 2.16, पृ. 131
28. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 347-66
29. बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुधस्वामि), अ. 29, श्लोक 355-56
30. अबू जईदहसन; ऐंसियन्ट एकाउन्ट्स आफ इण्डिया एण्ड चाइना, लंदन पृ. 87
(झिनकू यादव; समराइच्चकहा - एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 166 पर उद्धृत)
31. कुवलयमाला, 48.4
32. जैन, प्रेम सुमन: कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली पृ. 125
33. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. 106
34. (क) कुट्टनीमतम्, 218-230
(ख) सार्थवाह (मोतीचन्द्र), पृ. 214
35. ऋग्वेद 1, 166, 6
36. अथर्ववेद, 14, 2, 6
37. एस.सी. सरकार: सम आस्पेक्ट्स आप द अर्लियर सोशल लाइफ आफ इण्डिया पृ. 14
(सार्थवाह, पृ. 41 में उद्धृत)
38. जातक 1,1481
39. धम्मपद अट्ठकथा, 2, 31
40. जातक 1, 201
41. बृहत्कल्पभाष्य, 2486
42. ज्ञाताधर्मकथा, 25 अ.
43. कुवलयमाला, 55-11-13
44. वही, 99-23
45. जैन, गोकुलचन्द्र; यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 264

46. अशोक के शिलालेख (राजबलि पाण्डेय), द्वितीय शिलालेख
47. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 13, पृ. 344
48. कुवलयमाला, पृ. 65.9
49. ओसह दिज्जइ रोय-विणासणु ।
    कहवि ण पिच्छइ बाहिपयासुण ॥
    जैन, राजाराम; रइधुसाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. 489
50. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 307-318
51. मोतीचन्द्र, सार्थवाह
52. भविसयत्तकहा (धनपाल), तृतीय संधि
53. कासलीवाल, के.सी.; जैन ग्रन्थभण्डाराज इन राजस्थान, पृ. 184-217

❑❑❑

चतुर्थ

जैन साहित्य में अंकित नारी

पूर्वमध्ययुग का जैन साहित्य भारत के जन-जीवन को समझने के लिए विशेष महत्त्व का है। 7वीं शताब्दी में जैन आगमों पर कई टीकाएँ लिखी गई, जो भाष्य नाम से प्रचलित हैं। 8वीं शताब्दी में हरिभद्रसूरि और उद्योतनसूरि के प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थ अपने युग के जीवन को सूक्षमता से अंकित करते हैं। संस्कृत के कवि जटासिंहनन्दि ने अपने काव्य वरांगचरित में तत्कालीन समाज के चित्र उपस्थित किये हैं। इसी शताब्दी का सशक्त महाकवि स्वम्भु अपभ्रंश भाषा में रचित अपने ग्रन्थों में समसामयिक जीवन को चित्रित करता है। 9वीं शताब्दी के जैन साहित्य में जिनसेन का आदिपुराण प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में समाज के विभिन्न वर्गों और विषयों का वर्णन करते समय नारी की विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओं का अंकन भी हुआ है। इस विवरण से इस विवेच्य युग में भारतीय नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व और उसकी गरिमा-गौरव प्रकट होते हैं।

इस युग के जैन साहित्य में नारी के विविध रूपों का जीवन्त चित्रण है।[1] समराइच्चकहा,[2] हरिभद्र की अन्य कथाओं,[3] कुवलयमालाकहा,[4] स्वम्भु के साहित्य[5] आदिपुराण,[6] आदि ग्रन्थों का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानों ने नारी के कन्या, प्रेमिका, भार्या, माता, बहन, दासी, साध्वी, आदि कई रूपों में समाज में उसकी क्या स्थिति थी इस पर प्रासंगिक रूप से प्रकाश डाला है।इस युग के जैन साहित्य में अंकित कन्या, भार्या, एवं माता को केन्द्र में रखकर ही तत्कालीन समाज में उनकी प्रतिष्ठा आदि का रेखांकन किया गया है।

कन्या :

परिवार में अन्य सदस्यों के साथ पुत्री अर्थात् कन्या का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुत्र के समान ही पुत्री के जन्म का भी उत्सव मनाया जाता था। कुवलयमाला का जन्म होने पर उसके माता-पिता ने पुत्र-जन्म से भी अधिक उत्सव मनाया था।[7] बारहवें दिन उसका नामकरण संस्कार किया गया एवं उसके लालन-पालन की व्यवस्था की गयी।[8] समराइच्चकहा से ज्ञात होता है कि विलासवती के जन्म होने पर उसके लालन-पालन के लिये धायी नियुक्त की गयी थी।[9] कन्या को स्नेहवश बचपन में अनेक अलंकरों से अलंकृत किया जाता था।[10]

आदिपुराण के कथानक से भी ज्ञात होता है कि पुत्र और पुत्री के विभिन्न संस्कारों में कोई अन्तर नहीं किया जाता था।[11] कन्या का जन्म तब अभिशाप नहीं माना जाता था। चन्द्रमा की कला के समान जन-मन को आनन्द देने वाली श्रीमती नामक कन्या को देखकर उसके माता-पिता अत्यन्त हर्षित थे।[12]

कन्याओं को शिक्षित करना इस युग में आवश्यक माना जाता था। हरिभद्र ने विवरण दिया कि पुत्री रत्नवती की शिक्षा के लिये उसके पिता ने सभी साधन जुटाये थे और अपनी पुत्री को संगीत, चित्रकला एवं कई विज्ञानों में निष्णात किया था।[13] कुसुमावली को बचपन में ही काव्य एवं चित्रकला आदि की शिक्षा प्रदान की गयी थी।[14] शिक्षा पर इतना अधिक बल होने के कारण कुछ कन्याएँ इतनी विदुषी हो जाती थीं कि वे अध्यापनकार्य भी निपुणता से करती थीं। कुवलयमाला की एक कथा में भरुकच्छ की कन्या मदनमंजरी ने अपने पिता की आज्ञा से एक राजकीर को थोड़े ही समय में अक्षर-ज्ञान, लिपि-ज्ञान, वास्तु-लक्ष, नृत्य-ज्ञान, सभी दर्शन, आदि की शिक्षा देकर पंडित बना दिया था।[15] कन्या मदनमंजरी के द्वारा पढ़ाया गया वह राजकीर भी अध्यापन कला में इतना निपुण निकला कि उसने जंगल में पलने वाली एक कन्या को वहीं वन के वातावरण में इतने सुन्दर ढंग से शिक्षा प्रदान की कि वह बाद में महाविदुषी संन्यासिनी ऐणिका बनी।[16] आदिपुराण में भी कन्या-शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। जैसे लोक में विद्यावान् व्यक्ति पण्डितों के द्वारा सम्मान को प्राप्त होता है, वैसे ही विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है -

विद्यावान् पुरुषों लोके सम्मतिं याति कोविदैः।

नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्॥ – आदि., 16.18।

शिक्षा को ग्रहण करने वाली कन्याएँ आगे चलकर कुशल गृहिणी बनती हैं। उनके गुणों के विकास में शिक्षा की विशेष भूमिका रहती है। किन्तु अशिक्षित और संस्कार से हीन कन्याएँ कुमार्ग पर जल्दी अग्रसर होती हैं। समराइच्चकहा में पुरन्दरभट्ट की पत्नी नर्मदा और जिनधर्म की पत्नी बन्धुलता इसी प्रकार का अशिष्ट आचरण करने वाली नारियाँ हैं जिन्होंने बचपन में कोई शिक्षा व संस्कार प्राप्त नहीं किये थे।[17] आगम साहित्य की टीकाओं में भी ऐसी कथाएँ प्राप्त हैं।[18] एक जुलाहे की लड़की और एक राजकुमारी दोनों किसी प्रकार सहेलियाँ हो गई। एक धूर्त ने जुलाहे की लड़की को आकर्षित कर उसको साथ भागने के लिये तैयार कर लिया। जुलाहे की लड़की ने जब उस राजकुमारी को भी भाग जाने की सलाह दी तो राजकुमारी को किसी नीतिपूर्ण गाथा ने स्मरण दिलाया कि — 'हे आम्र! यदि किसी अधिक माह में कनेर के वृक्ष फूल जायें तो तुझे उस समय फूलना उचित नहीं। क्योंकि नीच लोगों के अशोभन कार्य का अनुकरण नहीं किया जाता। इस शिक्षा से राजकुमारी उस धूर्त से बचकर राजमहल में वापस लौट गयी। यथा —

जइ फुल्ला कणियारया चूयय ! अहिमासयंमि पुट्ठंमि।

तुह न खमं फुल्लेउं जइ पच्चंता करिंति डमराई॥ – 19

समाज में अपनी कन्या व बहन की जो प्रतिष्ठा तथा सम्मान था, वही दूसरों की

कन्याओं को प्रदान करने की अपेक्षा की जाती थी। अतः कन्याओं के साथ अनैतिक सम्बन्ध एवं उनके अपहरण संस्कारयुक्त समाज में बहुत कम होते थे। महाकवि स्वयम्भु ने सभी कन्याओं को प्रतिष्ठा देने के उद्देश्य से मंदोदरी द्वारा रावण को ऐसी शिक्षा देने का प्रसंग उपस्थित किया है। मंदोदरी कहती है कि जैसे आप अपनी बहन के अपहरण से क्रोधित हो उठे, वैसे ही दूसरों की कन्याओं और बहनों के सम्बन्ध में समझें

परमेसर कहो वि ण अप्पणिय, जिह कण्ण तेम पर-भायणिय।[20]

इस युग में कन्याओं के विवाह आदि के सम्बन्ध में कई वर्णन प्राप्त होते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह समय पर एवं अच्छे सुयोग्य वर के साथ करने की प्रत्येक पिता की अभिलाषा होती थी। पउमचरिउ में वर्णित अंजना के पिता ने जब गेंद खेलती हुई अपनी पुत्री के स्तन-विकास को देखा तो शीघ्र ही वर खोजकर कन्यादान करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि यदि युवावस्था में कन्यादान नहीं किया जाय तो वे दोष लगा सकती हैं।[21] कन्यादान के लिए वर के कुल, शील, एवं कीर्ति (गोत्र) आदि की जानकारी करना आवश्यक था।[22] प्रायः दोनों कुलों के वैभव, संस्कार एवं शील समान होने पर विवाह-सम्बन्ध होते थे। किन्तु कन्यायें रूप, गुण एवं साहस आदि से किसी युवक के प्रति आकर्षित होने पर उससे प्रेम-विवाह करती थीं। समराइच्चकहा में द्वितीय भव एवं सप्तम भव की कथा में ऐसे प्रेम-विवाहों का वर्णन है।[23] पउमचरिउ में मन्दोदरी, कल्याणमाला एवं अंजना नामक कन्याओं के प्रेम-विवाह हुए थे, यद्यपि प्रत्येक की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं।[24] प्रेम-विवाह में चित्र-दर्शन द्वारा आकर्षण की विशेष भूमिका होती थी। कुवलयमाला में कामगजेन्द्र और उज्जियिनी की राज़कुमारी का विवाह चित्र-दर्शन के आकर्षण से ही हुआ था। पउमचरिउ की वनमाला प्रारम्भ में लक्ष्मण की वाग्दत्ता थी, किन्तु बाद में लक्ष्मण के वन चले जाने पर जब भरत का पुत्र उसके पिता को मिला तो वनमाला का हृदय टूट गया। किन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी। उसने अगले जन्म तक में भी लक्ष्मण को पति के रूप में पाने की कामना से जब अपना प्राणघात करना चाहा, तभी संयोग से लक्ष्मण से उसका मिलन हो गया।[25]

स्वेच्छा से पति-वरण करने की स्वतन्त्रता के लिये स्वयंवरों का भी आयोजन इस युग में होता था, जिसका वर्णन जैन साहित्य में भी प्राप्त है। प्रायः उच्चवर्ग में ही स्वयंवर अधिक प्रचलित थे। किन्तु बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि निम्न वर्ग के लोग भी इस प्रकार के आयोजन करते थे। तोसलीदेश में एक ऐसे विवाह-स्थल का विवरण प्राप्त होता है, जहाँ दास-दासियाँ एकत्र होकर आपस में एक दूसरे को पसन्द कर अपना विवाह करते थे।[26] कभी-कभी उच्च घरानों की कन्याएं सामान्य व्यक्ति अथवा घर के नौकरों से परस्पर आकर्षण के कारण विवाह कर लेती थीं। एक राजकुमारी ने इन्द्रदत्त से विवाह कर उसकी मृत्युदण्ड से रक्षा की थी।[27] अश्वों के स्वामी एक धनिक की कन्या ने अपने नौकर से विवाह कर उसे अपने घर घर-जमाई रख लिया था।[28]

विवेच्य युग के जैन साहित्य में कन्याओं के जीवन के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रसंग भी प्राप्त होते हैं, जो उनकी स्वतन्त्रता और कर्तव्यपरायणता के द्योतक है। कुवलयमाला में चंडसोम की कथा में उल्लेख है कि चंडसोम की बहन श्रीसोमा अपनी भाभी के रोकने पर भी गांव में हो रहे नाटक को देखने चली जाती है।[29] उसका बड़ा भाई चंड अत्यन्त क्रोधी

था; फिर भी अपने प्राणों का भय न करके रात में गाँव में अकेले नाटक-देखने जाना कन्या के स्वातन्त्रयपूर्ण जीवन का परिचायक है।

महाकवि स्वयम्भु ने दो ऐसी कन्याओं का वर्णन किया है जो अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिये युद्ध-भूमि में जा पहुंचती हैं। वीर राक्षस वज्रमुख की कन्या लंकासुन्दरी अपने पिता के वधक हनुमान से लड़ने के लिये युद्ध-भूमि में उसका सामना करती है। दोनों में इतना प्रचन्ड युद्ध हुआ कि उसकी भीषणता से वहाँ जय या पराजय आने में डर रही थी। अन्ततोगत्वा हनुमान की वीरता ने लंकासुन्दरी को उसकी प्रेयसी बना दिया।[30] इसी प्रकार कल्याणमाला के पिता को कोई म्लेच्छ बन्दी बनाकर ले गया। तब शोक मानाने के स्थान पर कल्याणमाला स्वयं नलकूबर के पुरुष-वेश में राजा बन गयी। राम-लक्ष्मण से भेंट होने पर उसने उनसे अपने पिता को मुक्त कराने की प्रार्थना की। लक्ष्मण को देखकर कल्याणमाला उन पर आसक्त हो गयी। किन्तु उसने अपने स्वार्थ के लिये पुरुष-वेश तब तक नहीं त्यागा, जब तक उसे पिता की मुक्ति का आश्वासन नहीं मिल गया।[31]

भार्या :

सुशिक्षित, संस्कारयुक्त एवं साहसी कन्याएँ जब मनपसन्द वर के साथ विवाह सम्बन्ध में बँधती हैं, तो वे वधू, भार्या, गृह-लक्ष्मी आदि पदों को धारण करती हैं। इस युग में पत्नी की भूमिका गृहस्थ जीवन में सहचरी के रूप में रही है। वह अपने पति की मित्र, सलाहकार एवं संरक्षिका के रूप में प्रतिष्ठित थी। पत्नियों के आदर्श रूपों की प्रमुखता है, किन्तु अधम भर्याओं के भी विवरण कम नहीं हैं। अतः यह साहित्य तत्कालीन समाज में नारी के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करता। इन ग्रन्थों में वर्णित गृहणी के रूप केवल पौराणिक या काल्पनिक ही नहीं हैं, अपितु उनका जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। स्वाभाविक रूप से वे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के जीवन के द्योतक हैं। यह सामाजिक मनोवृत्ति का परिणाम है कि सच्चरित्र एवं त्यागमूर्ति गृहिणी को उस समय प्रतिष्ठा और गौरव दिया गया तथा कुलटा एवं स्वार्थी भार्याओं को तिरस्कार झेलना पड़ा।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपदेशपद में प्राचीन आगमों की प्रसिद्ध कथा "धन्य की चार पुत्रवधुएँ" प्रस्तुत की हैं। इसमें ससुर धन्यश्रेष्ठि द्वारा प्रदत्त कुल-परम्परा रूपी धान्य को अपनी बुद्धि और श्रम से कई गुना कर देने वाली छोटी बहू घर की स्वामिनी बनती है, जबकि स्वाद में रुचि रखने वाली, संग्रह करने वाली, एवं बड़ों के निर्देश को व्यर्थ समझने वाली अन्य बहुएँ घर के अन्य कार्यों में ही नियुक्त होती हैं।[32] गुण और बुद्धि के साथ यहाँ श्रम से युक्त नारी की प्रतिष्ठा की गयी है। दशवैकालिक-हरिभद्रीयवृत्ति में सुभद्रा की कथा शील के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाली है।[33] शीलवती नारियों की हर युग में प्रतिष्ठा रही है। समराइच्चकहा में ऐसी सच्चरित्र पत्नियों को "सुधाहारतुल्या", "विशुद्धशीला", "धर्म का कल्पवृक्ष" आदि सम्मान-सूचक विशेषण दिये गये हैं।[34] कुसुमावली पतिव्रता और गृह-संचालिका पत्नी के रूप में उपस्थित हुई है। वह पतिभक्ता नारी है। उसे जब यह आशंका होती है कि अपशुकन दोहद से उत्पन्न उसका पुत्र कहीं अपने पिता के लिये दुःखदायी न हो, तो कुसुमावली ऐसे पुत्र को पति के सुख के लिये

त्याग देती है।

पति के लिये पत्नी का पूर्ण रूप से समर्पण उस समय की आदर्श नारियों की विशेषता थी। स्वयम्भु ने सीता, अंजना एवं मंदोदरी के चरित्रों को इसी प्रकार विकसित किया है। रावण की प्रत्येक बात को यद्यपि मंदोदरी उचित नहीं समझती, फिर भी वह सीता के पास दूती-कर्म करने के लिये जाती है। इसके लिये उसे सीता की यह कठोर बात भी सुननी पड़ती है कि तुम्हारी किसी पर-पुरुष में आसक्ति है, इसीलिये तुम मुझे भी ऐसी दुर्बुद्धि दे रही हो —**मच्छुड्ड तुहुं पर-पुरसि पइद्धी, तें कज्जें महु देहि दुबुद्धि।**[35]

पतियों के साथ मन-वचन-काय से रहना सभी नारियों का कर्तव्य था। समराइच्चकहा की कथाओं में सार्थवाहों के साथ उनकी पत्नियाँ भी अनेक कष्ट उठाकर यात्रा में जाती हैं। रत्नवती तो अपने पति का क्षण भर का वियोग नहीं सह सकती थी। पति के मूर्छित होने की झूठी सूचना पाकर ही वह आत्मघात करने के लिये तैयार हो गयी थी। तब उसके ससुर ने उसे ढाढ़स बँधाया। उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में पति से प्रेम करने वाली पत्नियों के कई सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। मानदत्त की पत्नी अपने पति से किसी दूसरी स्त्री की परिहास में भी प्रशंसा नहीं सुन सकती थी। पति के रूठ जाने पर वह उसे मनाने भी जाती है और जब उसे अनुमान हुआ कि उसका पति कुएँ में गिर गया है तो वह भी कुएँ में कूद पड़ी और उसने अपनी जान दे दी। उसे विश्वास था कि संसार में स्त्रियों का पति देवता होता है — **भत्तार-देवयाओ णारीओ होंति लोगम्मि।**

कामगजेन्द्र की पत्नी प्रियंगुमती उसे इतना चाहती थी कि वह पति की इच्छा से उसकी शादी एक अन्य राजकुमारी से करा देती है, क्योंकि उसे यह भरोसा था कि पति के मन पर तो वही अधिकार रखती है। उसने पति से यह वचन ले लिया था कि वह जो कुछ भी इस लोक में देखता, सुनता, अनुभव करता है, वह सब कुछ आकर उसे बताना होगा।[36] इस युग में पत्नियों की यह विजय थी - पतियों के मन पर। सुन्दरी नामक एक पत्नी अपने पति को इतना चाहती थी कि वह उसकी मृत्यु भी स्वीकार नहीं कर सकी। उसने समाज के सभी निमयों को ताक पर रखकर अपने पति के शव को जलाने नहीं दिया और स्वयं उसे एकान्त में ले जाकर उसके साथ रहने लगी थी। तब एक युक्ति द्वारा उसे वास्तविकता से परिचित कराया गया।[37]

आदिपुराण से ज्ञात होता है कि इस युग में विवाहित नारी का महत्त्व क्रमशः बढ़ रहा था। वह घूमने-फिरने एवं धार्मिक उत्सवों में आने-जाने के लिये स्वतन्त्र थी। गुणवती भार्या को पाकर पति अपने को कृतार्थ मानते थे। पत्नी से पति की शोभा होती थी।[38] अतः पत्नियों का अपमान करना शिष्ट व्यक्ति के लिये अपराध जैसा था। जब पशु-पक्षी भी अपनी प्रियाओं का तिरस्कार नहीं सह सकते तब मनुष्य अपनी पत्नी के अपमान को क्यों कर सहेगा? अतः पति के लिये पत्नी पूर्णता का प्रतीक थी। वह उसे सदैव प्रसन्न और संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता था। पत्नी के इसी महत्त्व के कारण उसके कुछ अपराधों को पुरुष अनदेखा कर देता था। हरिभद्र ने एक वणिक् और उसकी पत्नी की कथा को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि उस वणिक् ने अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता को जानकर भी सहानुभूतिपूर्वक उसके साथ व्यवहार किया और उसे समझाया तो वह नारी सन्मार्ग पर लौट आयी।[39]

सद्‌गुणी एवं बुद्धिमति नारी पुरुष पर अधिकार जमाने में, उसे अपने वश में करने में सफल रही हैं। हरिभद्रसूरि के 'धूर्ताख्यान' नामक ग्रन्थ में खण्डपाना नामक नारी पाँच सौ धूर्त पुरुषों पर विजय प्राप्त करती है, उन्हें वाद-विवाद में हराती है तथा अन्त में उन्हें भोजन कराकर तृप्त करती है।[40] यह भी नारी की विजय का घोषणापत्र है— आठवीं शताब्दी का। कवि ने इस आख्यानक द्वारा नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकसित होने की सूचना दी है। अपने काव्यों में स्वयम्भु को भी नारी का सहभामिनी रूप ही अधिक प्रिय है। सम्भवतः यह उनका कृतज्ञता-ज्ञापन था — अपनी आइच्चम्बा और सामिअब्बा नामक दोनों पत्नियों के प्रति, जिन्होंने कवि को काव्य लिखने में प्रेरणा और सहयोग प्रदान किया था।[41]

1963

हरिभद्रसूरि ने एक मनोरंजक कथा द्वारा यह संकेत किया है कि उस समय किस प्रकार नारी पुरुषों पर शासन करने की बात सोचने लगी थी। एक ब्राह्मणी ने अपनी तीन कन्याओं को विवाह के समय यह शिक्षा दी कि तुम यदि अपने पतियों को वश में रखना चाहती हो तो प्रथम-मिलन में पाद-प्रहार से उनका स्वागत करना। जेठी कन्या ने जब पाद-प्रहार किया तो उसका पति उसके पैर को सहलाते हुए बोला- 'तुम्हें चोट तो नहीं लगी'। यह सुनकर माँ ने बेटी को सीख दी - 'तेरा यह पति जीवन भर गुलाम बनकर रहेगा।' मँझली कन्या के पति ने लात खाकर उसे तुरन्त भला-बुरा कहा। किन्तु फिर शान्त हो गया। बेटी को तब माँ ने समझाया — 'तुम कभी-कभी रूठते रहना तो आराम से रहोगी'। छोटी कन्या ने जब पाद-प्रहार का साहस दिखाया तो उसके पति उसे खूब पीटा और उसकी माँ को भी अपशब्द कहे। पता चलने पर माँ ने अकेले में बेटी को समझाया — 'पुत्रि, तुम्हें सबसे श्रेष्ठ पति मिला है। तुम इसकी आज्ञा में रहना तो सुखी रहोगी'।[42]

इस युग की पत्नियाँ अपनी पसन्द या नापसन्द प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करती थीं। वे केवल धार्मिक विश्वासों में नहीं जी रही थीं। समराइच्चकहा की धनश्री एवं लक्ष्मी मनचली एवं स्वच्छन्द पत्नियों के रूप में चित्रित हैं। वे भले ही पूर्वजन्म के कर्मों से प्रेरित हों, किन्तु उन्हें इस जन्म की लोक-निन्दा, पारिवारिक विरोध एवं पति के रुष्ट होने की कोई चिन्ता नहीं है। वे क्रूरहृदया, निष्ठुर, एवं पति को हर कदम पर धोखा देने में प्रवीण हैं।[43] स्वयम्भु ने भी चरित्रहीना और धोखेबाज पत्नियों के चित्र उपस्थित किये हैं। कनकप्रभा रानी ने अपने पति की उपेक्षा कर एक वसुभूति ब्राह्मण के साथ अनैतिक सम्बन्ध बना लिये थे। ऐसा कुकर्म करते हुए वह अपने दोनों बच्चों को तिनकों की तरह उपेक्षित रखती थी।[44] दुर्नयस्वामिनी नामक पत्नी ने अपने पति के साथ धार्मिक पक्षपात के कारण कुचक्र चलाया था।[45] इस युग में यद्यपि नारियों की इस प्रकार की स्वच्छन्दता के कई उदाहरण प्राप्त हैं, किन्तु समाज में ऐसी चरित्रहीन और कर्तव्यहीन नारी सम्मान की पात्र नहीं थी। उद्योतनसूरि द्वारा मोहदत्त की कथा में सपष्ट किया गया है कि अनैतिक सम्बन्ध का पता चलते ही परिवार और समाज के व्यक्ति दोषी को सजा दिलाने के लिये सक्रिय हो जाते थे। सुवर्णा नामक वणिक्पुत्री पति-त्यक्ता के रूप में अपने माँ-बाप के यहाँ रहती थी। किन्तु राजकुमार तोसल के साथ उसका अनैतिक सम्बन्ध हो जाने पर उसे घर छोड़ना पड़ा और तोसल के लिए मृत्युदण्ड की घोषणा की गयी।[46]

माता :

शीलवती एवं कर्तव्यपरायणा गृहिणी सन्तान-प्राप्ति करते ही माता के प्रतिष्ठित पद को सुशोभित करती थी। माता की प्रतिष्ठा और महत्त्व प्रायः हर युग में रहे हैं, क्योंकि माता गृहस्थ-जीवन की धुरी है। उसके द्वारा दिये गये संस्कार व्यक्ति को महापुरुषों की कोटि में बैठा देते है। इस युग में महाकवि हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी धर्ममाता याकिनी महत्तरा की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। अतः उन्होंने अपने साहित्य में माता के स्थान को प्रतिष्ठित किया है। पुत्र श्रद्धा से माता की वन्दना करते थे तथा अवसर आने पर माता की खुशी के लिये अपने भाग का राज्य छोड़कर मुनि बन जाते थे।[47] स्वयम्भु ने भी पउमचरिउ में यही दृश्य उपस्थित किया है। वे माता कैकयी द्वारा राम के वन-गमन का वर नहीं मँगवाते, अपितु राम का माता की इच्छा पूरी करने के लिये स्वयं वन-गमन निश्चय करते हैं। राम ने रावण-विजय के बाद जब अपनी माता अपराजिता के पुत्र-वियोग का दुःख सुना तो वे द्रवित हो उठे। उन्हें माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अत्यन्त प्रिय लगने लगी — **णिय जम्मभूमि जणणिए सहिय, सग्गे वि होई अइ-दुल्लहिय।**[48]

कवि सिद्धर्षि ने इस प्रकार की माताओं के चरित्र को देखकर ही कहा होगा कि माता का स्थान पिता से भी ऊँचा है, क्योंकि माता प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी सन्तान की सेवा के लिये तैयार रहती है।[49] जिनसेन ने माता को तीनों लोकों की कल्याणकारिणी, मंगल करने वाली महादेवी, पुण्यवती और यशस्विनी कहा है।[50]

उद्योतनसूरि ने माता और पुत्र के स्नेह को अपने वर्णन द्वारा साकार कर दिया है। कुवलयचन्द्र को जब मायावी अश्व उड़ाकर ले गया तो उसके वियोग में उसकी माता प्रियंगुश्यामा पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उसकी हालत पागलों जैसी हो गयी। किन्तु कुछ समय बाद जब उसे कुवलयचन्द्र की प्राप्ति का समाचार मिला तो माता-पिता ने एक राजकुमार को उसे लेने भेजा और अपने सन्देश में पिता ने कहा — 'हे पुत्र ! तुम्हारी प्राप्ति के समाचार से मूर्च्छा से बेहोश तुम्हारी माँ किसी प्रकार जीवित हुई है। यदि तुम अपनी माँ को जीवित देखना चाहते हो तो तुरन्त आना"।[51] माता ने अपने सन्देश में स्वयं के स्वार्थ की बात नहीं कही, अपितु अपने पति के जीवन की चिन्ता पुत्र तक पहुंचा दी।

माता का दुःख पुत्र को सहन नहीं होता। वह अपनी माँ के अपमान का बदला लेने के लिये बड़े से बड़े शत्रु से भिड़ने को तैयार था, चाहे वह उसका पिता ही क्यों न हो। राम द्वारा सीता के परित्याग को सीता तो यह कहकर सहन कर गयी कि हे राम ! आप एक वृक्ष से भी बौने हो गये। वृक्ष मरते दम तक अपने से लिपटी हुई लता को नहीं त्यागते, जबकि आपने मुझे त्याग दिया। नर और नारी के स्वभाव में यही अन्तर है।[52] किन्तु सीता के पुत्र लवण और अंकुश अपनी माता के पराभव को नहीं भूल सके। राम-लक्ष्मण से युद्ध करने कि लिये सीता द्वारा रोकने पर लवण ने कहा - "जिसने मेरी माँ को कलंक लगाया है, मैं उसको दावानल बनकर भस्म कर दूंगा।" अंकुश और एक कदम आगे था। उसने कहा - "मैं उन्हें अभी अपना प्रताप दिखाता हूं। जिसने मेरी माता को रुलाया है, हम भी उसकी माँ को रुला कर रहेंगे। यथा —

तो वुच्चई मयणंकुसेण एत्तडउ ताव दरिसावमि।

जेण रुवाविय माय महु तहो तणिय माय रोवावमि।[53]

इस युग में माता का इतना सम्मान होते हुए भी हरिभद्रसूरि ने समराइच्च्कहा के दूसरे भव की कथा में जालिनी नामक माता को कुमाता के रूप में चित्रित किया है। वह अपने पुत्र को दु:ख देने के नये-नये कुचक्र रचती रही है और अन्ततः पुत्र शिखीकुमार को अपने हाथों से मार डालती है।[54] सम्भवतः ऐसी कुमाता के प्रसंग उस समय अपवाद रहे हों अथवा पूर्वजन्मों के कर्मों के निदान के कारण माता को ऐसे दुष्कृत्य करने पड़े हों।

इस विवेच्य युग में नारी के विविध रूपों में जो विकास देखने को मिलता है वह उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचायक कहा जा सकता है। उसकी शिक्षा, साहसवृत्ति एवं श्रमशीलता के बढ़ते प्रभाव ने इस युग के जैन महाकवियों को पौराणिक कथानकों पर लिखते हुए भी उनमें नारी की पहिचान अलग बनाने के प्रयोग करने पड़े हैं।

नारी-जीवन और उसके गौरव तथा अपमान से जुड़े कुछ प्रासंगिक चित्र इस युग के जैन साहित्य में भी मिलते हैं। कन्या के विवाह के समय या उसकी विदा में पिता अपनी शक्ति भर धन-धान्य देता था। विवाह की हर भॉवर के साथ पिता द्वारा दक्षिणा-स्वरूप विभिन्न वस्तुओं को देने का उल्लेख समराइच्चकहा में है।[55] कुवलयमाला के पिता ने भी बेटी की विदा के समय धन-धान्य दिया था। किन्तु इसे आज की दहेज-प्रथा से नहीं जोड़ा जा सकता। इसी प्रकार विधवा-जीवन के भी दो-चार प्रसंग यहाँ उपलब्ध हैं।[56] किन्तु वे उतने कष्टदायक नहीं कि चर्चा कि विषय बनें। पति के प्रेम में आसक्त कोई पत्नी अग्नि-प्रवेश की अथवा आत्मघात की प्रतिज्ञा भी करती दिखायी देती है।[57] किन्तु वह धार्मिक विश्वास के लिये या किसी डर से किया गया सती-मरण नहीं है। निर्धनता के कारण या कर्ज चुकाने के लिये स्त्रियाँ नौकरी आदि भी करती थीं।[58] उन्हें दासी, धाई, चेटी आदि नामों से जाना जाता था। अतः इस विवेच्य युग में नारी के प्रायः उन सभी रूपों का विवरण प्राप्त है, जिनसे उसकी प्रतिष्ठा और महत्व का ज्ञान होता है। इन ग्रन्थों में प्राप्त विवरण आदर्श के साथ-साथ यर्थाथवादी भी है, इसलिए उनका समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक महत्त्व है।

सन्दर्भ

1. (क) जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965, पृ. 245-285।
   (ख) जैन, कोमलचन्द्र, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, वाराणसी।
   (ग) संगवे, विलास ए., जैन कम्युनिटी - ए सोशियल सर्वे, बम्बई 1959, पृ. 167, आदि।
2. यादव, झिनकू, समराइच्चकहा - एक सांस्कृतिक अध्ययन, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, 1977, पृ. 121-141।
3. शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, 1965, पृ. 377, आदि।
4. जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, 1975, पृ. 119, आदि।
5. शर्मा, योगेन्द्रनाथ, स्वयम्भू और तुलसी के नारीपात्र, मेरठ, 1979, पृ. 62, आदि।

6. शास्त्री, नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, 1968, पृ. 176, आदि।
7. ततो तीए पुत्त-चम्माओ वि अहियं कयाइ वद्धावणयाइं, कुव., 162.9।
8. वही, 162.10।
9. समरा., भव 5, पृ. 371।
10. वही, भव 8, पृ. 744।
11. आदिपुराण, सर्ग 38, श्लोक 70।
12. वही, 6.83।
13. समरा., भव 8, पृ. 744।
14. वही, भव 2, पृ. 87-88।
15. सव्व कलागम कुसलो जिणवयणसुणिच्छओ महाबुद्धी।
तीए पसाएण अहं अह जाओ पंडिओ सहसा॥ कुवलयमाला, 123.26।
16 इमिणा पओगेण अक्खर-लिवीओ गाहिया। तओ धम्मत्थ-काम-सत्थाई अहीयाई।
सल्वहा जाणियं हियाहियं........। कुव., 127.1-18।
17. समरा., भव 9, पृ. 922 (अणहीयसत्थो ईइसौ जैव इत्थयायणो होइ)।
18. आवश्यकचूर्णि, 2, पृ. 56 : आवश्यक-हारिभद्रीयटीका, पृ. 556।
19. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ. 60 पर उद्धृत।
20. पउमचरिउ, 12वीं संधि, कड़वक 4, पंक्ति 4।
21. कण्णा-दाणु कहिंतणउ जइ, ण दिण्णु तो तुडिहि चडावहिइ। पउम., 63.9।
22. कुल-सील-कित्ति-परिवज्जियाहं, को कण्णउदेइ अलज्जियाहं। पउम., 82.2.4।
23. यादव, वही, पृ. 122।
24. शर्मा, वही, पृ. 97, आदि।
25. पउमचरिउ, 29.11.9।
26. बृहत्कल्पभाष्य, 2, गाथा 3446।
27. आचारांगचूर्णि, 5, पृ. 186।
28. बृहत्कल्पभाष्य 3, गाथा 3959।
29. कुवलयमाला, अनु. 90, पृ. 46।
30. पउमचरिउ, संधि 48, 10-1 आदि।
31. वही, संधि 26, 19-9।
32. उपदेशपद, गा. 172-179, पृ. 144।
33. दशवैकालिकवृत्ति, गा. 73, पृ. 92।
34. समराइच्चकहा, क्रमशः भव 9, पृ. 922, भव 8, पृ. 731, एवं भव 2, पृ. 123।
35. पउमचरिउ, 41.12.5।
36. जं किं चि तुमं पेच्चसि सुणेसि अणुहवसि एत्थ लोगम्मि।
तं मज्झ तए सव्वं साहेयव्वं वरो एसी॥ —कुव., 233.6।
37. कुव. 225. 21.30।
38. स तथा कल्पल्लयेव सुरागोलंकृति नृपः। — आदि., 6.59।
39. दशवैकालिकहारिभद्रीयवृत्ति, गां. 87, पृ 114।
40. उपाध्याये, ए, एन., धूर्ताख्यान, बम्बई, भूमिका।
41. (क) प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 197।
(ख) उपाध्याय, संकटाप्रसाद, महाकवि स्वयम्भू, अलीगढ़, 1969, पृ. 30।
42. आवश्यक-हारिभद्रीय टीका, पृ. 55।-
43. समरा.।

44. पउमचरिउ, संधि 33, 2.3-7 ।
45. वही, संधि 35, 12.9 ।
46. कुवलयमालाकहा, अनुच्छेद 45, पृ. 75 ।
47. **करेउ पसायं अम्बा, पवज्जामि अह समणत्तणंति,** समरा. भव, 6, पृ. 485 ।
48. पउमचरिउ, संधि 78, 17-4 ।
49. उपमितिभवप्रपंचकथा, 153 ।
50. आदिपुराण, सर्ग 13, श्लोक 30 ।
51. **मुच्छा मोहिय जाया तुज्झ पउत्तीहि आससिज्जंती ।**
ता पुत्त ! तुरयं या जणणी पेच्छसि जियंती ॥ कुव, 157.8 ।
52. णर-णारिहिं एवडड्उ अन्तरु. मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरवरु । पउम, 83.9 ।
53. पउमचरिउ, 82.9-9 ।
54. शास्त्री, हरिभद्र, पृ. 242 ।
55. यादव, वही, पृ. 128 ।
56. समराइच्चकहा, भव 7, पृ. 664 ।
57. वही, भव 4, पृ. 276, आदि ।
58. जैन, जगदीशचन्द्र, वही, पृ. 158, आदि

❑❑❑

पंचम

भगवतीसूत्र में प्रतिपादित धार्मिक उदारता

भगवतीसूत्र में प्राचीन भारत का धार्मिक एवं दार्शनिक जगत् सूक्ष्मता के साथ अंकित हुआ है। इस ग्रन्थ में भगवनान् महावीर के साथ विभिन्न चिन्तकों, साधकों एवं दार्शनिकों की जो चर्चाएं हुई हैं, उनके विवरणों में तत्कालीन भारतीय धार्मिक जगत् का इतिहास छिपा हुआ है। किसी सम्प्रदाय विशेष में आगम ग्रन्थ में अन्य दूसरे समप्रदायों, धर्मों और मान्यताओं के विचारकों के मतों को, उनकी जीवनचर्या की, उनकी श्रद्धा और विनय को अंकित करना धार्मिक उदारता का परिचायक है। इस ग्रन्थ में प्राचीन जैन धर्म के सिद्धान्तों के साथ अन्य मतों की जो समीक्षा की गयी है, वह विशुद्ध रूप से तार्किक है। यहां किसी विचारधारा या धार्मिक जीवन-पद्धति को हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता है। केवल आत्मानुभूति के परिप्रेक्ष्य में उसके गुण-दोषों को प्रकट किया गया है। वैचारिक उदारता एवं धार्मिक समन्वय के कुछ बिन्दुओं को सामने रखकर **भगवतीसूत्र** में प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों को संक्षेप में यहां प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

भगवतीसूत्र में अनेक दार्शनिक समस्याओं का समाधान अन्य तीर्थिकों के द्वारा उठाये गये प्रश्नों के रूप में किया गया है। उनके कुछ उदाहरण यहां द्रष्टव्य हैं—

1. गौतम स्वामी पूछते हैं कि "हे भगवन् ! क्या अन्य तीर्थिकों का यह कथन सत्य है कि कर्म (दुःख) शाश्वत है और वह सदा उपचय को प्राप्त होता रहता है...... इत्यादि ?" भगवान् महावीर इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि "यह सब जो कहा गया है, वह मिथ्या कहा गया है। हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूं कि कर्म को शाश्वत मानना ठीक नहीं है, क्योंकि उसका क्षयोपशम, क्षय आदि होता रहता है।"[1]

2. अन्य तीर्थिकों का यह कथन मिथ्या है कि एक ही जीव एक ही समय में इस भव का और परभव का आयुष्य एक साथ वेदता है। वस्तुतः एक ही भव में अनेक आयुष्य नहीं भोगे जा सकते हैं, क्योंकि एक समय में एक ही आयुष्य का उदय होता है।[2]

3. **भगवतीसूत्र** के सातवें शतक के दसवें उद्देशक में अन्य तीर्थिकों के पहली बार नाम भी प्राप्त होते हैं। कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय, नमोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक एवं सुहस्ती गृहस्ती गृहपति आदि ने एक साथ मिलकर गौतम से पंचास्तिकाय के संबंध में प्रश्न किये। गौतम द्वारा पूरा समाधान न मिलने पर वे

सब महावीर के पास आये। महावीर ने उनके प्रश्नों का समाधान किया। उससे प्रभावित होकर कालोदायी अन्य तीर्थिक ने महावीर से दीक्षा ले ली। इस प्रसंग में अग्निकाय को जलाने और बुझाने में क्या अन्तर है, इसका सुन्दर समाधान भगवान् महावीर के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[3]

4. अन्य तीर्थिकों का उल्लेख एक स्थान पर 'बहुजणे' नाम से भी किया गया है। बहुत से (धार्मिक एवं पौराणिक) लोग ऐसा कहते हैं कि युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है ?[4] क्या यह कथन ठीक है ? महावीर ने इसका सुन्दर समाधान किया है कि लोग देवों द्वारा पुष्प-वृष्टि एवं देवगीतों को देखकर ऐसा कह देते हैं। कई लाख व्यक्ति युद्ध में मरते हैं। सभी स्वर्ग नहीं जाते। कोई एकाध योद्धा, जो रणभूमि में भी मरते समय प्रतिक्रमण और सामायिक की साधना में रत हो जाता है, वही स्वर्ग जाता है- जैसे वरुण नागनत्तुआ नामक योद्धा।[5]

5. एक स्थान पर अन्य तीर्थिकों के साथ श्रमण स्थविरों का अदत्तादान (अचौर्यव्रत) के विषय में वाद-विवाद होता है। यहां क्रियाकाल और निष्ठाकाल में भिन्नता नहीं है, इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया गया है।[6]

6. अन्यत्र श्रुत एवं शील में से कौन श्रेष्ठ है, इस विषय को लेकर अन्य तीर्थिकों के मत का खण्डन किया गया है। इसके लिये सुन्दर चतुर्भंगी शैली का प्रयोग किया गया है।[7] जैन साहित्य में ज्ञान और चारित्र के संबंध को लेकर विस्तृत चर्चायें की गयी हैं।[8] भारतीय चिन्तन-परम्परा में यह विषय रोचक रहा है।

7. जीव और जीवात्मा के संबंध को लेकर भी अन्य तीर्थिकों के मत का निराकरण महावीर द्वारा इस ग्रन्थ में किया गया है। उनका कथन है कि जीव और जीवात्मा भिन्न हैं।[9]

8. एक बार जब अन्य तीर्थिकों ने गौतम को एकान्त असंयत् यावत् एकान्त बाल कहा और उसके कारण दिये तो गौतम ने इसका निराकरण करते हुये यथार्थ उत्तर दिया। भगवान् महावीर ने यथार्थ उत्तर देने पर गौतम को साधुवाद दिया।[10]

इस प्रकार **भगवतीसूत्र** में अन्य तीर्थिकों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है जो जैन दर्शन के संबंध में उठ सकती थीं। अन्य तीर्थिकों की पहिचान कर पाना कठिन है कि वे किस प्राचीन दर्शन से संबंध रखते हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि ये दार्शनिक श्रमण-परम्परा के नहीं थे, किन्तु श्रमण-चिन्तन से भली भांति परिचित थे। **भगवतीसूत्र** में इस सामान्य तत्त्वचर्चा के आगे बढ़कर कुछ दार्शनिकों के नाम लेकर तत्त्वचर्चा एवं जीवनचर्या के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं।

रोह अनगार के प्रश्न :

भगवतीसूत्र में महावीर के अन्तेवासी रोह अनगार ने कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित किये हैं जो तत्कालीन दार्शनिक जगत् में बहुप्रचलित थे। जैसे — यह संसार ईश्वर द्वारा निर्मित है, लोक शून्य से उत्पन्न हुआ है, संसार पंच महाभूतों से बना है, संसार की उत्पत्ति के बाद सिद्ध उत्पन्न हुए हैं, इत्यादि। रोह अनगार ने लोक-अलोक, जीव-अजीव, सिद्ध-संसारी आदि

के पूर्वापर क्रम के संबंध में भगवान् महावीर से प्रश्न किये। उनमें प्रसिद्ध एवं रोचक प्रश्न भी हैं कि भगवन्! पहले अण्डा और फिर मुर्गी है? या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है?-

पुव्विं भंते! अंडए ? पच्छा कुक्कुड़ी ? पुव्विं कुक्कुडी ? पच्छा अंडए ?

(प्र. शतक, उ. 6)

महावीर ने इस प्रश्न को टाला नहीं। उन्होंने उत्तर दिया — हे रोह ! मुर्गी और अण्डा पहले भी है और पीछे भी हैं। ये दोनों शाश्वत भाव हैं अतः इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है। यही बात अन्य पदार्थों के संबंध में जाननी चाहिए।[11]

स्कन्दक तापस :

भगवान् महावीर ने श्रावस्ती नगरी के गर्दमाल परिव्राजक के शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक तापस के मनोगत प्रश्नों का तर्क-सम्मत उत्तर देकर उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में दीक्षित किया था।[12] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि —

(1) निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधु वैदिक तापसों से तत्वमीमांसा के कोई भी प्रश्न कर सकते थे।

(2) इन तापसों के ज्ञान की अच्छी धाक जन-समुदाय में थी।

(3) स्कन्दक तापस को पूर्ण आदरसहित स्मरण किया गया है। यथा- वह बहुत से ब्राह्मण और परिव्राजक संबंधी नीति और दर्शनशास्त्रों में निष्णात था।

(4) पिंगल निर्ग्रन्थ द्वारा पूछे गये पांच कठिन प्रश्नों के उत्तर न आने पर भी इन दोनों साधकों में कोई तकरार नहीं हुई।

(5) महावीर से इन प्रश्नों के उत्तर सुनकर स्कन्दक को अपने विचारों को त्यागकर निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित होने में कोई हिचक नहीं हुई। इस विचार-परिवर्तन में धर्म, जाति, देश को कोई बन्धन नहीं था।[13]

(6) महावीर ने इन पांचों प्रश्नों के संबंध में कि — 1. लोक सान्त है या अनंत, 2. जीव सान्त है या अनंत, 3. सिद्धि सान्त है या अनंत, 4. सिद्ध सान्त है या अनंत तथा 5. कौन-सा मरण संसार बढ़ाता है और कौन-सा मरण संसार घटाता है? तार्किक उत्तर दिये हैं। द्रव्य एवं क्षेत्र की अपेक्षा से लोक, जीव, सिद्ध एवं सिद्धि सान्त है, किन्तु काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त हैं। बालमरण संसार को बढ़ाता है तथा पण्डितमरण संसार को घटाता है। इन पांचों प्रश्नों में जैन दर्शन का सार आ गया है। इसी अनेकान्त दृष्टि ने स्कन्दक तापस को प्रभावित किया है। इस तरह यह प्रसंग धार्मिक उदारता का श्रेष्ठ उदाहरण है।

(7) स्कन्दक तापस के वर्णन का जो विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त है उससे ज्ञात किया जा सकता है कि तत्कालीन परिव्राजकों की क्या वेशभूषा होती थी, उनके क्या उपकरण होते थे तथा उनकी साधना कैसी होती थी। अतः भारत के धार्मिक इतिहास के निर्माण के

लिए जैन आगमों के ऐसे प्रसंगों का अपरिहार्य महत्व है।

शिव राजर्षि तापस :

भगवतीसूत्र में शिव राजर्षि तापस का सूक्ष्म वर्णन प्राप्त है। (शतक 11, उ.9)।[14] हस्तिनापुर के राजा शिव ने अपने पुत्र शिवभद्रकुमार को राज्य सौंपकर स्वयं दिशाप्रोक्षिक तापस प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। शिव राजर्षि ने दिक्चक्रवाल तप-कर्म की साधना कर यह ज्ञान प्राप्त किया कि इस लोक में सात द्वीप एवं सात समुद्र हैं। उसके बाद कोई द्वीप या समुद्र नहीं है। शिव राजर्षि का यह विभंगज्ञान भगवान् महावीर के सामने जब उपस्थित किया जाता है तब वे इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस लोक में असंख्य द्वीप एवं असंख्य समुद्र हैं। उनके इस निराकरण आदेश को सुनकर शिव राजर्षि का विभंगज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। इस स्मरण-ज्ञान से शिव राजर्षि स्वयं महावीर के दर्शन के लिए जाते हैं और उनसे धर्म-श्रवण कर वहीं दीक्षित हो जाते हैं।

मुद्गल परिव्राजक :

महावीर से दीक्षित होने वालों में मुद्गल (पोग्गल) परिव्राजक की भी कथा आती है। इसमें इन्हें देवस्थिति विषयक विभंगज्ञान होता है और फिर उनका निवारण महावीर द्वारा किया जाता है।[15]

इन दोनों कथानकों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में किसी भी सम्प्रदाय के साधु क्यों न हों, उनके विशेष ज्ञान, तपस्या आदि की चर्चा सर्वत्र होती रहती थी। अपने से श्रेष्ठ ज्ञान वाले साधक से कोई बात सीखने में, उनकी विनय करने में, उनसे दीक्षा लेने में, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, पद आदि कुछ बाधा रूप में नहीं थे। तपश्चर्या और क्रियाकाण्डों में विविधता होते हुए भी दार्शनिक प्रश्नों के यथार्थ समाधान प्राप्त करने के प्रति सब में समान भावना थी।

इन प्रसंगों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय 38 प्रकार के वानप्रस्थ तापस थे। यथा — होत्तिय (अग्निहोत्री), पोत्तिय (वस्त्रधारी), कोत्तिय (भूमिशायी), जण्णई (यज्ञवादी), सड्ढई (श्रद्धालु), थालई (बर्तनधारक), हुबंउट्ठ (कमण्डलधारी), दंतुक्खलिय (फलभोगी), उम्मज्जक (एक बार स्नान करने वाले), संमज्जक (अनेक बार डुबकी लगाने वाले), निमज्जक (जल में डूबे रहने वाले), संपक्खाल (मिट्टी से स्नान करने वाले), उत्तरकूलग (उत्तर तटवासी), संखधमक (शंख बजाने वाले), कूलधमक (किनारे पर खड़े होकर शब्द करने वाले), मियलुहदय, हथितापस, उडडंडक, दिसापोक्खी, बकवासी, अंब्वासी, बिलवासी, जबवासी, वेलवासी, सेवालभक्खी इत्यादि। इन सबका परिचय टीकाकार ने दिया है।[16] अन्य जैन आगमों में भी इनके उल्लेख प्राप्त हैं।[17] पंचाग्नितप में अपने को तपाना इनकी विशेषता रही है।[18]

इस तरह परिव्राजक, वानप्रस्थ, तापस आदि अनेक संन्यासियों की प्रव्रज्या के उल्लेख भगवतीसूत्र में हैं। इनके अतिरिक्त क्रियावादिन, अक्रियावादिन, अज्ञानवादिन एवं विनयवादिन नामक साधकों का उल्लेख भी इस ग्रंथ में प्राप्त हैं। तीसवें शतक के प्रथम

उद्देशक में चार प्रकार के समवसरण मतों का वर्णन है। उसमें इनके नाम आये हैं। इन चारों प्रकार के दार्शनिकों का विस्तृत परिचय **सूत्रकृतांग** में दिया गया है।[19] क्रियावादी के निरसन में न्याय, वैशेषिक और अक्रियावादी के निरसन में बौद्धों के मतों की समीक्षा की गयी है। अज्ञानवादियों के मत को मिथ्याज्ञान की कोटि में रखा गया है इनके स्वतन्त्र उदाहरण **भगवतीसूत्र** में प्राप्त नहीं हैं। यद्यपि अन्यान्य प्रसंगों में इन मतों की समीक्षा की गयी है, किन्तु विनयवादी का निराकरण करने के लिए भगवतीसूत्र में दो साधकों के जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

तामली तापस की प्रणामा प्रव्रज्या :

ताम्रलिप्ति के गृहपति मौर्यपुत्र तामली के मन में प्रणामा प्रव्रज्या के पूर्व जो शुभ विचार आते हैं, वे बड़े महत्व के हैं। उनसे ज्ञान होता है कि उस समय के गृहस्थस्वयमेव भी साधक जीवन जीने के लिए लालायित रहते थे। अपनी समृद्धि को क्षण भर में त्याग देने में उन्हें दुविधा नहीं होती थी। प्रणामा प्रव्रज्या में कठोर तपस्या के साथ-साथ सामने आने वाले सभी प्राणियों को यथायोग्य प्रणाम करना पड़ता है। यथा—

जं जहा पासति तस्स पणमं करेई। से तेणट्ठेणं जाव पणामा पव्वज्जा।

- भ. 3, 1

तामली द्वारा इस प्रणामा प्रव्रज्या में पादपोगमन अनशन की साधना भी की गई है। इसमें शरीर इतना सूख गया कि अन्त में संलेखना द्वारा अपने प्राण त्याग दिये। इसके पुण्यार्जन से वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ। किन्तु अज्ञानपूर्वक तपश्चरण होने से उससे कर्मक्षय नहीं हुआ। बाद में विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वहां से वह मुक्त हो गया।[20] इस तामली तापस के कथानक द्वारा यह संकेत किया गया है कि किसी भी परम्परा का साधक क्यों न हो, उसे श्रमण परम्परा का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। ज्ञानपूर्वक तपश्चरण ही मुक्ति-प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

पूरण गृहपति की दानामा प्रव्रज्या :

बेमेल नामक सन्निवेश के गृहपति पूरण ने भी इसी प्रकार तपश्चरण करके चमरेन्द्र पद को प्राप्त किया था। उसने दानामा प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसमें दान की प्रमुखता थी। पूरण के चार खाने वाले भोजन पात्र में जो भिक्षा उसे मिलती थी, उसमें से एक भाग की भिक्षा वह पथिकों को दे देता, दूसरे खाने की भिक्षा कौओं और कुत्तों को खिला देता, तीसरे खाने की भिक्षा मछलियों और कछुओं को दे देता तथा चौथे खाने में पड़ने वाली भिक्षा को वह स्वयं खाता था।[21] इस तरह बारह वर्ष तक दानामा प्रव्रज्या का पालन करता हुआ पूरण तपस्वी संलेखना की आराधना करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। पुण्यार्जन से वह भी इन्द्र बना।

यह पूरण तापस और बौद्ध साहित्य में वर्णित पूरणकाश्यप सम्भवतः दोनों एक ही व्यक्ति रहा हो। जैसे यह पूरण तापस दान में सब कुछ देकर निस्संग रहता था, वैसे ही पूरणकाश्यप की भी निःस्पृहता प्रसिद्ध थी।[22] महावीर एवं बुद्ध की परम्परा में वर्णित ऐसे

साधकों का तुलनात्मक अध्ययन धार्मिक और दार्शनिक उदारता के कई नये आयाम प्रगट कर सकता है। तामली और पूरण इन दोनों साधकों को महावीर की शरण में आना होता है। अतः इन प्रसंगों से यह संकेत दिया गया है कि साधना में भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है।

जामालि का कथानक :

भगवतीसूत्र में वर्णित विभिन्न दार्शनिकों एवं साधकों के साथ जामालि और महावीर के प्रसंग का वर्णन तत्कालीन धार्मिक उदारता का श्रेष्ठ उदाहरण है।[23] अन्य तापसों आदि की साधना का वर्णन तो उन्हें सन्मार्ग की ओर कैसे प्रेरित किया गया इसका परिचायक है। किन्तु जामालि के साधक जीवन का वर्णन हमारे समक्ष कई तथ्य उपस्थित करता है।

जामालि के कथानक से ज्ञात होता है कि महावीर के समय में कई प्रबुद्ध विचारक थे, जो केवल श्रद्धावश ही नहीं, अपितु अपने चिन्तन द्वारा भी वस्तु-स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते थे। जामालि को महावीर ने दीक्षित किया था। फिर भी वह महावीर के सिद्धान्तों से मतभेद रखता था। बिस्तर बिछाने की घटना से जो चिन्तन प्रारम्भ हुआ, 'कृतक्रियमाण' के संबंध में उससे जामालि के शिष्य दो भागों में बंट गये।[24] इससे ज्ञात होता है कि उस समय चिन्तन के आधार पर धार्मिक जीवन पर्याप्त उदार था।

जामालि ने जब अपनी सर्वज्ञता का मिथ्या दावा किया और वह महावीर का विरोधी बन गया तब भी महावीर ने उसके विरोध में कोई वक्तव्य नहीं दिया। यद्यपि वे अपनी सर्वज्ञता से यह जानते थे कि जामालि उनका विरोधी होगा, फिर भी उन्होंने उसे अपना शिष्य बनाया। यह उनकी उदारता है। अर्हन्त भगवान् भवितव्यता को टालने में निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होते।[25]

गोशालक का कथानक :

भगवतीसूत्र में वर्णित गोशालक का कथानाक भी तत्कालीन दार्शनिक जगत् में व्याप्त उदारता का परिचय कराता है। गोशालक ने महावीर से जब कई बार शिष्य बनाने की प्रार्थना की, तब उन्होंने अन्त में उसे अपना शिष्य बना लिया। किन्तु तिलस्तम्भ-निष्पति विषय को लेकर गोशालक भगवान् के वचनों में अश्रद्धा करने लगा। फिर भी महावीर ने उनके प्राणों की रक्षा की। जब महावीर ने गोशालक के जिनत्व को स्वीकार नहीं किया तब वह फिर महावीर से द्वेष करने लगा। उसने आनन्द आदि स्थविरों को महावीर के प्रति कठोर शब्द कहे। तब भी महावीर ने अपने श्रद्धालु शिष्यों को रोका कि — हे आर्यों! आप में से कोई भी मंखलिपुत्र गोशालक के साथ उनके मत के प्रतिकूल कोई भी धर्म संबंधी चर्चा न करें और उनके मत के प्रति तिरस्कारस्वरूप न कहें।[26]

महावीर की यह निषेध-आज्ञा इसका प्रबल प्रमाण है कि वे धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण में विश्वास करते थे। धार्मिक और दर्शन के क्षेत्र में संकीर्णता उन्हें पसंद नहीं थी। वे गोशालक के क्रोध एवं तेज से भी परिचित थे। अतः धार्मिक विवाद में अनावश्यक हिंसा को वे रोकना चाहते थे। किन्तु आगे चलकर जब गोशालक की तेजोलेश्या समाप्त

हो गयी तब महावीर ने अपने शिष्यों को उसके साथ वाद-विवाद आदि करने के लिए आज्ञा दे दी।[27] गोशालक जब अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने में निरुत्तर हो गया तब उसके कई शिष्य उससे अलग होकर महावीर के शिष्य बन गये।[28] इस प्रसंग में शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यान और गोमायुपुत्र अर्जुन इन छः दिशाचर शिष्यों का उल्लेख मिलता है।[29]

पार्श्वनाथ स्थविरों से तत्त्वचर्चा :

भगवतीसूत्र में दार्शनिक और धार्मिक उदारता का परिचय हमें पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के बीच हुई तत्त्वचर्चाओं में भी प्राप्त होता है। महावीर के श्रावक पार्श्वनाथ के साधुओं का उसी प्रकार वन्दन, प्रवचन-श्रवण और स्वागत करते थे, जिस प्रकार महावीर के श्रमणों का।[30] पार्श्वपत्य स्थविरों को यदि कोई तत्तवचर्चा करना होती थी तो वे निःसंकोच महावीर के पास चले जाते थे। महावीर उनके प्रश्नों के उत्तर पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के उदाहरण देकर करते थे। इससे वे साधु पूर्ण सन्तुष्ट हो जाते थे। तब वे महावीर की भी अपने गुरु की तरह वन्दना करने लगते थे। कुछ साधु पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म के स्थान पर महावीर के पंचमहाव्रत वाले धर्म में दीक्षित हो जाते थे।[31] कालासवेसियपुत्र, गांगेय, कालियपुत्र, मेहिल, आनन्द रक्षित, कासव एवं केसिस्वामिन् आदि पार्श्वनाथ स्थविरों के प्रश्नोत्तरों के वर्णन भगवतीसूत्र में प्राप्त होते हैं।[32]

विभिन्न श्रमणोपसकों की चर्चाएं :

भगवतीसूत्र में अनेक ऐसे प्रसंग भी हैं, जिनमें सामान्य गृहस्थ महावीर से प्रश्न करते हैं और सन्तुष्ट होने पर श्रमणोपासक बन जाते हैं। ऋषिभद्रपुत्रादि श्रमणोपासकों में परस्पर मतभेद हो जाने की स्थिति में महावीर ऋषिभद्र के कथन को सत्य बताते हैं। इससे दूसरे श्रमणोपासक उससे क्षमा मांगते हैं।[33] यह घटना धार्मिक सौहार्द को प्रगट करती है। शंख और पुष्कली श्रमणोपासकों में जब पौशध अशन को लेकर मतभेद हो गया तब श्रमणोपासक शंख का तिरस्कार करने लगे। इस पर भगवान् महावीर ने उन्हें रोका और कहा— हे आर्यो! आप शंख श्रमणोपासक की हीलना, निंदा, खिंसा, गर्हा, अवमानता मत करो, क्योंकि उसने सदृष्टि ज्ञानी की जागरणा की है।[34] सोमिल ब्राहम्ण अपने मन की शंकाओं की निःसंकोच महावीर के समक्ष रखता है और उनके समाधान पाकर वह श्रमणोपासक के वस्त्र ग्रहण कर लेता है।[35] अतः ज्ञात होता है कि उस समय किसी धार्मिक जीवन-पद्धति को स्वीकार करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र था, और किसी भी व्यक्ति को अपना अनुयायी बनाने के लिए धर्म उदार था। उस समय किसी भी धर्म एवं धर्मनेता का आदर-सत्कार करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था। ऋषभदत्त ब्राहम्ण अपने वैदिक धर्म का पालन करता हुआ भी महावीर के श्रमणों की वन्दना और सत्कार करता था।[36] केवल श्रमणोपासक ही नहीं, अपितु कई नारियां भी तत्त्वचर्चा में और धार्मिक साधना में आगे रहती थीं। जयन्ति श्रमणोपासिका की महावीर के साथ की गयी तत्त्वचर्चा प्रसिद्ध है।[37] अतः तत्कालीन धार्मिक जगत् में आत्मकल्याण के क्षेत्र में प्रगति करने के लिए पुरुष-स्त्री का कोई भेद नहीं था।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में वर्णित विभिन्न दार्शनिकों के वर्णन उस समय की धार्मिक उदारता के दर्शन कराते हैं। साथ ही इतनी सामग्री भी प्रस्तुत करते हैं जो प्राचीन भारत के दार्शनिक इतिहास के निर्माण के लिए बहुत उपयोगी हो सकती है। प्राचीन भारत के इन चिन्तकों का सामाजिक स्तर क्या था, वे किस परम्परा में दीक्षित थे, उनकी वेशभूषा क्या थी, धार्मिक उपकरण क्या थे, धार्मिक क्रियाकाण्ड कैसे संपन्न होते थे, उनकी दार्शनिक मान्यताएं षड्दर्शनों में किससे मेल खाती थीं तथा किन व्यक्तियों ने अपना परम्परागत दर्शन छोड़कर नया दर्शन ग्रहण किया था, इत्यादि विभिन्न प्रश्नों के समाधान भगवतीसूत्र में एवं अन्य जैन आगमों में प्राप्त दार्शनिक सामग्री से प्राप्त किये जा सकते हैं। भगवतीसूत्र में उपलब्ध धार्मिक चर्चाओं ने आगे चलकर जैन साहित्य में 'धर्म-परीक्षा' नामक एक विधा को विकसित किया है। इससे भारत में प्रचलित विभिन्न मतों की साहित्यिक सुरक्षा हो गयी है,[38] अन्यथा बहुत से मत-मतान्तर लुप्त हो गए होते। भगवतीसूत्र में पार्श्वनाथ एवं महावीर के श्रमणों की आपसी चर्चा से जैन संघ के इतिहास की सामग्री भी सुरक्षित हो गयी है। निष्पक्ष और ऐतिहासिक दृष्टि से इस सब सामग्री के मूल्यांकन किये जाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। - भगवती, 1 ।10 ।1
2. भगवती, 5 वां शतक, उद्देशक 3
3. मधुकर मुनि (सं.) व्याख्या प्रज्ञप्तिसूत्र, ब्यावर, 1982, पृ. 202-203
4. भगवद्गीता, अ. 2, श्लोक 32-37
5. भगवती, शतक 7, उ. 9
6. भगवती, शतक 8, उ. 7, वही पृ. 327-339
7. वही, शतक 8, उ. 10, पृ. 402-403
8. तत्त्वार्थसूत्र, प्रथमसूत्र की व्याख्या। समणसुत्तं गाथा
9. आचार्य तुलसी (सं.) - अंगसुत्ताणि 2, भगवई, 17.2.31, पृ. 743
10. मुनि कन्हैयालाल 'कमल' (सं.) जैनागम निर्देशिका, दिल्ली, 1966, पृ. 341, भगवती, 15 शतक, 8 उद्देशक
11. एवामेव रोहा। से य अंडए सा उ कुक्कडी, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा।........ एयंपि तहेव नेतव्वं जाव सव्वद्धा। —भगवती 1, 6, पृ. 113-115
12. भग., द्वितीय शतक, प्रथम उद्देशक
13. देवेन्द्र मुनि-धर्मकथानुयोग (भाग 1), भूमिका, पृ. 78
14. जैन, जगदीशचन्द्र ; जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965, पृ. 414 (फुटनोट)

15. धर्मकथानुयोग-भाग 1, पृ. 282-284
16. विस्तार के लिए देखें-सिकदर, जे.सी.; स्टडीज इन भगवतीसूत्र, वैशाली, 1964, पृ. 453-454
17. आचारांगचूर्णि, 5, पृ. 168, निरयावली, 3, पृ. 39 आदि।
18. आयावणहि पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं, कंदुसोल्लियं कट्ठसोलियं पिव अप्पाणं करेमाणा विहरंति। - भगवई 11.9, पृ. 495
19. मधुकर मुनि (सं.), सूत्रकृतांगसूत्र, भाग 1, ब्यावर, 1982, पृ. 37 से 62
20. भगवतीसूत्र, 3.1, पृ. 299
21. जं से चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ। - भगवती 3.2
22. मज्झिमनिकाय का चुल्लसारोपमसुत्त 30, पृ. 139
23. भगवतीसूत्र, शतक 9, उद्देशक 33।
24. विशेषावश्यकभाष्य में विशेष विवेचन।
25. भगवतीसूत्र, भाग 2, ब्यावर, 1983, पृ. 568
26. तंमा णं अज्जा ! तुब्भं कोइ गोसालं मंखलिपुत्र धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएउ, धम्मियाए पडिसारणयाए पडिसारेउ, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेउ। — भगवती, 15, सूत्र 76
27. अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य निप्पट्ठपसिणवागरणं करेह। वही, सूत्र 86
28. विस्तार के लिए देखें- मुनि नगराज; आगम और त्रिपिटक-एक अनुशीलन, कलकत्ता, 1969, पृ. 20-46
29. वही, पृ. 20
30. (क) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उ. 5, पृ. 218
(ख) भगवतीसूत्र टीकानुवाद (पं. बेचरदास) खण्ड 1, पृ. 287
31. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 5, उ. 9, पृ. 517-518
32. सिकदर, जे.सी., स्ट्डीज् इन द भगवतीसूत्र, पृ. 456
33. भगवती, शतक 11, उ. 12
34. मा णं अज्जो ! तुब्भे संखं समणोवासगं हीलह, निदंह, सिंखह, गरहह अवमण्णह। - भगवती, शतक 12, उ. 1
35. भगवतीसूत्र, शतक 18, उ. 10
36. वही, शतक 9, उ. 33
37. वही, शतक 12, उ. 2
38. जैन, प्रेम सुमन; 'कुवलयमाला में प्रयुक्त धर्मपरीक्षा-अभिप्राय', प्राच्यविद्या सम्मेलन पत्रिका, पूना 1976

❑❑❑

षष्ठम

प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि

जैन साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है। इसमें प्रारम्भ से ही जो सिद्धान्त और दर्शन के ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें प्राचीन भारतीय गणित के कई सिद्धान्त एवं पारभाषिक शब्दावलि का प्रयोग हुआ है। षट्खण्डागम और स्थानांग सूत्र आदि ग्रन्थों की सामग्री इस दृष्टि से उपयोगी है। तिलोयपण्णत्ति में गणित एवं भूगोल दोनों की भरपूर सामग्री है। सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ भारतीय साहित्य पर यूनानी प्रभाव के पहले के ग्रन्थ हैं। अतः इनकी सामग्री भारतीय गणित की मौलिक उद्भावनाओं के लिये महत्वपूर्ण है। भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, तत्वार्थसूत्र में प्राप्त गणितीय सामग्री प्राचीन भारतीय गणित के इतिहास में कई नये तथ्य जोड़ती है। जैन साहित्य में प्राप्त गणितीय-सामग्री का पूर्ण वैज्ञानिक एवं विवेचनात्मक अध्ययन स्वतन्त्र रूप से अभी नहीं हुआ है। किन्तु भारतीय गणित के इतिहास को लिखने वाले विद्वानों ने जैन साहित्य की इस सामग्री की ओर मनीषियों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया है। डा. उपाध्याय ने गणितीय शब्दावली के विवेचन में भी जैन ग्रन्थों में प्राप्त गणित की सामग्री को उजागर किया है।

प्राचीन भारतीय गणित के मध्यकाल अथवा स्वर्णयुग में भी गणित के प्रयोग में जैनाचार्यों का विशेष योग रहा है। आर्यभट से प्रारम्भ होने वाले एवं भास्कर द्वितीय तक चलने वाले इस 500 ई. से 1200 ई. तक के काल में महावीराचार्य द्वारा प्रणीत गणितसार संग्रह नामक ग्रन्थ अंकगणित की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है। लघुत्तम समापवर्त्य के जिस नियम का प्रारम्भ यूरोप में 15 वीं शताब्दी में हुआ, उस आधुनिक नियम को महावीराचार्य ने 8-9वीं शताब्दी में ही प्रस्तुत कर दिया था। भिन्नों, श्रेढ़ियों तथा अंकगणितीय प्रश्नों का जितना विशद और विस्तृत रूप गणितसारसंग्रह में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं है। इस जैनाचार्य की यह मान्यता थी कि इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके आधार में गणित न हो।

बहुभिविप्रलापैः किम् त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना न हि॥

जैन साहित्य में यह स्वीकार किया गया है कि लौकिक, वैदिक, एवं अन्य सब प्रकार के सामयिक कार्यों में गणित (संख्यान) का प्रयोग किया जाता है।

लौकिके वैदिके वापि तथा सामयिकेअपि यः ।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते ॥

आचारांग निर्युक्ति (5.50) में भी कहा गया है कि प्रत्येक जैन आचार्य को गणियं का अध्ययन करना चाहिये ।

महावीराचार्य का 'गणितसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत, तेलगु एवं कन्नड़ आदि भाषाओं में टीकाएँ लिखी गयी हैं।

इन्ही महावीरचार्य ने बीजगणित पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है 'षट्त्रिंशिका । इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जयपुर के एक शास्त्र-भण्डार में प्राप्त है।

प्राकृत भाषा में वि.सं. 1372-1380 के बीच प्रसिद्ध जैन गृहस्थ विद्वान ठक्कर फेरु ने 'गणितसार-कौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा है। भास्कराचार्य की 'लीलावती' से साम्य रखते हुए भी इस गणितसार-कौमुदी में अनेक विषय नये हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। अभी यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

गृहस्थ जैन विद्वान पल्लीलाल अनन्तपाल ने 'पाटीगणित' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त भी 5-6 गणित विषयक जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं।

महावीराचार्य के कार्य को जैनाचार्य श्रीधर ने आगे बढ़ाया। उन्होंने त्रिंशतिका, पाटीगणित एवं बीजगणित (अनुपलब्ध) नामक ग्रन्थों की रचना कर गणित के इतिहास में कई नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। द्विघात समीकरण के साधन का नियम श्रीधर ने प्रतिपादित किया है। श्रीधर ही केवल ऐसे गणितज्ञ हैं, जिन्होंने बीजगणितीय विषय का भी ज्यामितीय उपचार किया है।

जैनाचार्यों के गणित विषयक ग्रन्थों में जो गणितीय शब्दावली प्राप्त होती है उसमें सर्वप्रथम यह जानने को मिलता है कि गणियं अर्थात गणित स्वतन्त्र अध्ययन का विषय था, केवल ज्योतिष अथवा भूगोल के लिये उपयोग नहीं था। इसी महत्ता के कारण जैन साहित्य में गणितानुयोग नाम से एक स्वतन्त्र विभाजन करना पड़ा। इस प्राचीन विभाजन को आधार मानकर मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल' ने सम्पूर्ण आगम ग्रन्थों से गणित की सामग्री संकलित कर उसे 'गणितानुयोग' नाम से प्रकाशित की है। अब हिन्दी अनुवाद के साथ गणितानुयोग का नया संस्करण छप गया है। गणितशास्त्र के जैन ग्रन्थों की सामग्री का वही उपयोग वही कर सकता है जो गणित एवं जैन सिद्धान्त दोनों में पारंगत हो। समय-समय पर कुछ विद्वान साधु-साध्वियों ने इस दिशा में प्रयत्न किये हैं। किन्तु प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन इस विषय के आधार स्तम्भ कहे जा सकते हैं। उनके विद्वत्तापूर्ण लेखन से पाश्चात्य जगत् भी जैन गणित के बहुमूल्य सिद्धान्तों से परिचित हुआ है।

डा. उपाध्याय ने जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त गणितीय शब्दावली का इस प्रकार आकलन किया है –

सूर्यप्रज्ञप्ति (सूत्र 11, 19, 25, 100)		
त्रिकोण	—	विषम चतुष्कोण
समचतुरस्र	—	समचक्रवाल
पंचकोण	—	विषम चक्रवाल
विषमचतुरस्र	—	चक्रार्ध चक्रावाल
समचतुष्कोण	—	चक्राकार
स्थानांगसूत्र		
परिकम्म (संख्यान)	—	एकतो अनन्त
ववहार (संख्यान)	—	द्विविधानन्त
रज्जू (संख्यान)	—	देशविस्तारानन्त
रासी (संख्यान)	—	सर्वविस्तारानन्त
कलासवर्ण	—	शाश्वतानन्त
यावत्तावत्	—	भंग (स्थान क्रम)
वर्ग	—	ओज (विषम संख्या)
वर्ग वर्ग	—	युग्म (सम संख्या)
गणिय	—	विकल्प गणित
सूक्ष्म	—	(क्रमचय तथा संचय)
भगवतीसूत्र		
संख्येय	—	घन (ठोस)
असंख्येय	—	घनत्रयस्र (त्रिभुजाधार सूची स्तम्भ)
संयोग (संचय)	—	घनचतुरस्र (घनवर्ग)
त्र्यस्र	—	घनायत
चतुरस्र	—	घनवृत्त
आयत	—	धनपरिमंडल
वृत्त	—	वलयवृत्त
परिमंडल (दीर्घवृत्त)	—	वलयत्र्यस्र
प्रतर (समतल)	—	वलय चतुरस्र
उत्तराध्ययन सूत्र (अ. 30 गा. 10-11)		
वर्ग	—	घनवर्ग (6)
घन	—	घनवर्गवर्ग (12)

वर्गवर्ग (4)	–	(बीजगणित घातों के नाम)
अनुयोगद्वारसूत्र :		
स्थान	—	रसमान
द्रव्य प्रमाण	—	सूच्यंगुल
क्षेत्र प्रमाण	—	प्रतरांगुल
काल प्रमाण	—	घनांगुल
भाव प्रमाण	—	प्रथम वर्ग
मान	—	द्वितीय वर्ग
उन्मान	—	तृतीय वर्ग
अवमान (रेखिकमान)	—	प वाँ वर्ग
गणिम (संख्यामान)	—	प्रथम वर्गमूल
प्रतिमान	—	द्वितीय वर्गमूल
धान्यमान	—	तृतीय वर्गमूल
तत्त्वार्थसूत्र :		
वृत्त परिक्षेप (परिधि)	—	बाहु (त्रिज्या)
ज्या (जीवा)	—	भेदगुणन (खण्ड-गुणन)
इषु (शर)	—	विष्कंभार्ध
विष्कंभ (व्यास)	—	व्यासार्ध
धनुकाष्ठ (चाप)	—	(जंबुदीवसमास)

इस प्रकार जैन साहित्य के इन ग्रन्थों में रेखागणित, बीजगणित आदि के क्षेत्र में कई शब्द पहली बार प्रयोग में आये हैं। कोण, पाटी, श्रेढ़ी, गच्छ, जीवा आदि शब्द प्राकृत ग्रन्थों से ही संस्कृत साहित्य में प्रविष्ट हुए हैं। आज गणित के क्षेत्र में संख्यावाचक शब्द प्रायः गणितसार संग्रह से ही गृहीत किये गये हैं। नील को छोड़कर प्रायः सभी आधुनिक संख्यावाची शब्दों का प्रयोग महावीरचार्य ने अपने ग्रन्थ में किया है। कुछ विशेष शब्द द्रष्टव्य हैं —

गणितसारसंग्रह :		
उन्नत	—	निम्न (नतोदर)
एकीकरण	—	निरुद्ध
करणसूत्र	—	पृष्ठ
गुण	—	प्रचय

गुणोत्तर	—	मासिक वृद्धि
गुणसंकलित	—	मिश्रधन
घनीवृत्त	—	वृत्त
चय	—	शतवृद्धि (प्रतिशत)
समवृत्त	—	शंख, महाशंख

श्रीधराचार्य ने भी गणितीय शब्दावली में कई विशिष्ट शब्द जोड़े हैं। यथा-

यच संकलित	—	संस्थानक
वृद्धयुत्तर	—	आय (धन)
हीनोत्तर	—	व्यय (ऋण)
निम्न	—	सम
अर्धवृत्त	—	विषम

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द जैन साहित्य से एकत्र किये जा सकते हैं। उनका आधुनिक गणित के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से जैनाचार्यों के योगदान को रेखांकित किया जा सकता है। केवल गणित के क्षेत्र में ही नहीं, इन शब्दों से भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर भी नया प्रकाश पड़ सकता है। गणित में जो सवाल दिये जाते हैं वे जन-जीवन को व्यक्त करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में स्त्री-विक्रय, पशु-विक्रय के सवाल मिलते हैं। किन्तु जैन ग्रन्थों में जैन दर्शन के प्रभाव के कारण ऐसे सवाल नहीं दिये गये हैं। यहाँ कमलों, भ्रमरों, सरोवरों एवं दान की वस्तुओं को आधार मानकर सवाल दिये गये हैं। जैसे गणित-तिलक में कहा गया है कि दो भ्रमर कमल पर परागरंजित हो रहे हैं, शेष के आधे किसी गजराज के मद का आनन्द ले रहे हैं, बाकी वहां भ्रमरों का एक जोड़ा देखा गया तो कुल कितने भौंरे थे ? जैन साहित्य से इस प्रकार के सभी सवालों को एकत्र कर यदि उनका अध्ययन किया जाय तो कई सांस्कृतिक पक्ष उजागर हो सकेंगे।

गणितीय शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी बहुत उपयोगी है। आज हमारे सामने जो शब्द प्रचलित हैं वे हजारों वर्षों की यात्रा कर यहाँ तक पहुँचे हैं। अतः उनके परिवेश का अध्ययन कई तथ्य दे सकता है। **'ओनामासि धम'** आज भी शिक्षा प्रारम्भ करते समय बच्चों से कहलवाया जाता है, जो जैन काल में **'ॐ नमः सिद्धम्'** का अपभ्रंश है। **'वानर'** शब्द का अर्थ बन्दर है। किन्तु यह शब्द क्यों प्रचलित हुआ ? इसके तह में जायें तो ज्ञात होता है कि वा का अर्थ है समान और नर माने मनुष्य।मनुष्य जैसा जो हो वह वानर। इस शब्द से मानव के विकासवाद का समर्थन हो जाता है। प्राकृत में कृषि को **करिसि** कहते हैं ! यह करिसि तमिल में **अरिसि** के रूप में प्रचलित हो गया। चूंकि वहाँ कृषि में चावल अधिक होता है अतः चावल के लिए **अरिसि** शब्द प्रचलित हो गया। अंग्रेजों का प्रथम सम्पर्क मद्रास में अधिक रहा। उन्होंने चावल के लिए प्रचलित **अरिसि** शब्द को **राइस** कहना प्रारम्भ कर दिया। शब्दों के विपर्यय से यह स्वाभाविक हो गया। शब्दों के

प्रयोग की कथा प्रत्येक विज्ञान को जानना आवश्यक है। भारतीय ज्योतिष में दिन और मासों के नाम प्रचलित होने की सुन्दर कथाएँ हैं। जैसे अश्विनीकुमार नामक देव के लिए भाद्रप्रद के बाद आने वाला माह सुनिश्चित था। किन्तु कालान्तर में 'अश्विनीकुमार माह' कहना कठिन पड़ने लगा तो इसके दो टुकड़े हो गये और हम इस माह का **आश्विन** तथा **कुवार** दो नामों से जानने लगे।

व्यापार एवं गणितशास्त्र में आज **'ब्याज'** बहुत प्रचलित शब्द है। प्राचीन काल में इसके लिए **कुसीद** शब्द प्रचलित था। फिर वृद्धि शब्द प्रयोग में आया। किन्तु संस्कृत साहित्य में ब्याज पर पैसा लेना या देना दोनों ही हेय माना गया। धीरे-धीरे इस धन्धे में छल-कपट और बेईमानी बढ़ गई। अतः इसके लिए संस्कृत का **'ब्याज'** शब्द प्रयुक्त होने लगा, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र में छल होता है। फिर ब्याज का अर्थ क्षतिपूर्ति करने वाला कर हो गया। बाद में गुजरात में ब्याज का अर्थ सूद के रूप में प्रयुक्त हो गया। गणिततिलक की टीका में यह जनभाषा का ब्याज शब्द अपने प्रचलित अर्थ में संस्कृत में प्रविष्ट हो गया। जैन गणित के ग्रन्थों में कमलवाची शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। यदि ऐसे सभी शब्दों का संकलन कर उनके इतिहास को खोजा जाये तो कमल-संस्कृति से जैन दर्शन का कहीं गहरा सम्बन्ध देखने को मिलेगा।

गणितशास्त्र के जैन ग्रन्थों में कई शब्दों की नयी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं, उनसे गणित के पारिभाषिक शब्दों को समझने में मदद मिलती है। जैन ग्रन्थों में 'रज्जू' का अर्थ स्वयंभूरमण समुद्र का व्यास किया गया है। कहा गया है कि यदि कोई शक्तिशाली देवता 1000 भार के गर्म लोहे के गोले को फेंके तो 6 मास 6 दिन 6 पहर और 6 घड़ी में वह जितनी दूर जाय उस दूरी को रज्जू कहते हैं। (रत्न संचय 5, 19-20)। इसी प्रकार **'कोण'** शब्द का गणित के अर्थ में प्रयोग सूर्यपज्ञप्ति में मिलता है, जो ईसा पूर्व का ग्रन्थ माना गया है। इससे उन कुछ पाश्चात्य विद्वानों की उस धारणा का खण्डन होता है जिसमें वे कोण को यूनानी शब्द **'गोनिया'** से निकला हुआ मानते थे। जबकि 'कोण' मूल भारतीय शब्द है। हो सकता है कि उसने यूनान को गोनिया शब्द प्रदान किया है। **'आयत'** शब्द आज के वर्तमान अर्थ में भगवती सूत्र (25, 3) तथा अनुयोगद्वार सूत्र आदि से प्राप्त होता है। **'जीवा'** शब्द सर्वप्रथम प्राकृत ग्रन्थों में ही गणित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'लघुक्षेत्र समास' नामक ग्रन्थ में 'जीवा' की व्याख्या दी गई है। अतः 'जीवा' से 'ज्या' के रूप में यह शब्द भारत से अरब और अरब से यूरोप पहुँचा है। इस प्रकार के अन्य सभी पारिभाषिक गणितीय शब्द जैन साहित्य से एकत्र किये जाने चाहिए और उनका आधुनिक गणित के साथ तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. उपाध्याय, ब. ल; प्राचीन भारतीय गणित, दिल्ली 1971।

2. जैन, लक्ष्मीचन्द्र; गणितसार-संग्रह, सोलापुर, 1983।

3. मुनि कन्हैयालाल 'कमल'; गणितानुयोग, साण्डेराव, 1970 ।
4. जैन, लक्षमीचन्द्र, तिलोयपण्णति का गणित, प्रस्तावना लेख (जम्बूद्वीप पण्णत्ति संगहो), सोलापुर, 1958 ।
5. आर्यिका विशुद्धमतिजी; तिलोयपण्णत्ति, 1984 ।
6. सिंह, ए.एन.; 'हिस्ट्री ऑफ मेथामेटिक्स इन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज' जैनसिद्धान्त भास्कर, 1949-1950
7. कापड़िया, हीरालाल; गणित तिलक (व्याख्या सहित), बड़ौदा ।
8. शुक्ल, कृपाशंकर; पाटी गणित (श्रीधराचार्य) लखनऊ ।
9. दत्त, बी.बी. एवं सिंह, हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास, लखनऊ ।
10. आचार्य तुलसी, अंगसुत्ताणित, लाडनूं, 1984 ।
11. आचार्य तुलसी; आगम शब्द-कोष, लाडनूं, 1984 ।
12. शास्त्री, नेमीचन्द्र; तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 1-4 ।
13. जैन, जगदीशचन्द्र; जैन आगमों में भारतीय समाज, वाराणसी ।
14. भोजक, अम्बालाल शाह; जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 5, 1969 ।

❑❑❑

सप्तम

ऋषभदेवचरित की तिथियों की समीक्षा

श्री यतिवृषभाचार्य-विरचित तिलोयपण्णत्ति शोरसैनी आगम साहित्य का प्रमुख ग्रन्थ है। जैन परम्परा के भूगोल, गणित, इतिहास एवं दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का इसमें समावेश है। प्राकृत के इस प्राचीन ग्रन्थ का प्रथम बार प्रकाशन 1943 एवं 1951 में हुआ था। उसके बाद 1986 में इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ के सम्पादकों ने अपनी भूमिकाओं में विषयवस्तु, ग्रन्थकार एवं रचनाकाल आदि पर विशेष प्रकाश डाला है। तदनुसार तिलोयपण्णत्ति को 473 ई. से 609 ई. के बीच की रचना स्वीकार किया गया है। लेखक ने स्पष्ट रूप से अपना नाम ग्रन्थ में अंकित नहीं किया है, किन्तु प्रकारान्तर से यह प्रमाणित है कि तिलोयपण्णत्ति के रचयिता यतिवृषभ थे।

तिलोयपण्णत्ति में दो प्रकार के ऐतिहासिक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। जैन संघ की परम्परा का ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करते समय इस ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों के जन्मान्तर, आयु, राज्यकाल, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्ष-गमन आदि का विवरण दिया गया है। इस विवरण में भगवान् ऋषभदेव के जीवन की कुछ घटनाओं का जो अंकन हुआ है उनसे ऐतिहासिक समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। महावीर के सम्बन्ध में जो विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त हैं, उनमें भी कुछ अन्तर देखने को मिलता है। महावीर के निर्वाण के बाद 1000 वर्षों की जैन परम्परा का विवरण भी ग्रन्थ में विभिन्न मान्यताओं के साथ उपलब्ध है। इन सब ऐतिहासिक सन्दर्भों को जैन संघ की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जाँचना-परखना उपयोगी होगा।

ऋषभदेव सम्बन्धी विचारणीय स्थल :

तिलोयपण्णत्ति में सुषमा-दुषमा काल के निरूपण के प्रसंग में तीर्थंकरों के जीवन आदि का वर्णन है। उसी सन्दर्भ में भगवान ऋषभदेव के जन्म-काल से लेकर मोक्ष-गमन तक का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। उसके अनुसार ऋषभदेव का जन्म आयोध्या के राजा नाभिराज एवं रानी मरुदेवी के यहाँ सुषमा-दुषमा काल में चौरासी लाख वर्ष पूर्व, 3 वर्ष 8 माह और एक पक्ष (15 दिन) अवशेष रहने पर चैत्र कृष्णा नवमी को हुआ था।[1] उनके शरीर की ऊंचाई पाँच सौ धनुष थी।[2] ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व वर्ष थी।[3] उन्होंने 20 लाख वर्ष पूर्व का कुमार-काल व्यतीत कर 63 लाख पूर्व वर्ष तक राज्य किया[4] उसके बाद

नीलांजना नर्तकी के असामयिक मरण से वैराग्य उत्पन्न होने पर[5] उन्होंने चैत्र कृष्ण नवमी के दिन तीसरे पहर उत्तराषाढ़ नक्षत्र में षष्ठ (मास के) उपवास के साथ दीक्षा धारण की।[6] दीक्षा के एक हजार वर्ष बीत जाने [7] पर उन्हें फाल्गुन कृष्ण एकादशी का पूर्वान्ह में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भगवान ऋषभदेव तृतीय (सुषमा-दुषमा) काल में जब 3 वर्ष 8 मास और एक पक्ष (15 दिन) शेष थे, तब सिद्धपद को प्राप्त हुए।[8] इस बात को प्रकारान्तर से ग्रन्थकार ने फिर समर्थन दिया है कि ऋषभजिनेन्द्र के मोक्ष-गमन के पश्चात 3 वर्ष, 8 माह और पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर दुषमा-सुषमा नामक चतुर्थकाल प्रारम्भ हुआ -

उसहजिणे णिव्वाणे वास तए अट्ठमास मासद्धे।
वोलीणम्मि पविट्ठो दुस्सम-सुसमो तुरिम कालो।।– गा. 1287

तिलोयपण्णत्ति में वर्णित भगवान ऋषभदेव के इन जीवन प्रसंगों में जैन परम्परा के अन्य ग्रन्थों के वर्णनों से कोई विशेष अन्तर नहीं है। सामान्य अन्तर इस प्रकार है =

	तिलोयपण्णत्ति	**अन्य ग्रन्थ**
1 जन्म	चैत्रकृष्णा नवमी	चैत्रकृष्णा अष्टमी [9]
2- वैराग्य उत्पत्तिकारण	नीलांजना नर्तकी	वसन्त ऋतु की क्रीड़ा [10]
3-दीक्षा तिथि	चैत्रकृष्णा नवमी	चैत्रकृष्णा अष्टमी [11]
4-पारणा	दीक्षा तिथि से एक वर्ष बाद (अर्थात चैत्रकृष्णा नवमी को[12]	बैशाख शुक्ला तृतीया को (अर्थात 1 वर्ष 1 माह आठ दिन बाद)[13]
5 -उपवास	8 माह के उपवास के साथ दीक्षा [14]	वेला (2 उपवास) के साथ दीक्षा [15]
6- मोक्षतिथि	माघकृष्णा चतुर्दशी[16]	माघकृष्णा त्रयोदशी[17]

भगवान ऋषभदेव के जीवन की उपर्युक्त घटनाओं में नवमी अथवा अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा त्रयोदशी के सन्दर्भ ऐतिहासिक क्रम में अधिक बाधक नहीं हैं। क्योंकि एक तिथि के घटने बढ़ने से भी यह अन्तर हो सकता है। किन्तु पारणा तिथि और मोक्षतिथि के सम्बन्ध में पूज्या आर्यिका विशुद्धमतिजी ने अपनी भूमिका में जो समस्याएं उपस्थित की हैं, वे जैन इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय हैं। तिलोयपण्णपत्ति से प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर कुछ समस्याओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1-पारणा की तिथि की समस्या-

तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख है कि भगवान ऋषभदेव की प्रथम पारणा दीक्षा के एक वर्ष में इक्षुरस के द्वारा हुई थी।[18] किसके द्वारा और किस तिथि को उन्हें यह इक्षुरस दिया गया इसका उल्लेख ग्रन्थ में नहीं है। किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार परवर्ती ग्रन्थों में इस घटना का विकास हुआ है। जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण में यह तो कहा है कि राजा श्रेयांस ने पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर भगवान ऋषभदेव को इक्षुरस पारणा के लिये प्रस्तुत किया।[19] किन्तु किस तिथि को यह पारणा हुई, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया

है। इतना संकेत अवश्य इस ग्रन्थ में है कि छह माह के अनशन के बाद ऋषभदेव आहार के लिये निकले[20] एवं विधिपूर्वक आहार न मिलने पर लगातार छह माह तक विहार करते रहे।[21] अतः दीक्षा-तिथि से एक वर्ष बाद ही उन्हें इक्षुरस का आहार मिला, इसे जिनसेन ने भी स्वीकारा है। नवीं शताब्दी तक के दि. जैन साहित्य में पारणा-तिथि का उल्लेख प्राप्त नहीं है। दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में यह उल्लेख किया है कि श्रेयांस ने भगवान ऋषभदेव को उनके उपवास का एक वर्ष बीत जाने पर अक्षय आहार दान दिया। जिससे वह दिन अक्षय तृतीया के नाम से सार्थक हो गया। इस सन्दर्भ में वैशाख शुक्ला तृतीया का उल्लेख नहीं है।[22]

श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में भी इस पारणा-तिथि का उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र एवं जम्बूदीप प्रज्ञप्ति में प्रथम पारणा का ही उल्लेख नहीं है। समवायांग सूत्र एवं वसुदेवहिण्डी[24] में सम्वत्सर-उपवास के बाद पारणा का उल्लेख है, किन्तु पारणा तिथि का नहीं। त्रिशिष्टशलाकापुरुषचरित[25] एवं खतरगच्छ वृहत गुर्वावली[26] में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है कि भगवान ऋषभदेव का प्रथम आहार (पारणा) वैशाख शुक्ला तृतीया को हुआ। इससे स्पष्ट है कि 12वीं शताब्दी के पूर्व ऋषभदेव की पारणा-तिथि उनकी दीक्षा तिथि से एक वर्ष बाद ही निश्चित थी, जो चैत्रकृष्णा नवमी होनी चाहिये। छह माह के उपवास से दीक्षा लेने एवं छह माह तक आहार न मिलने की घटना की संगति भी इससे बैठ जाती है। इसी के लिये प्राचीन ग्रन्थकारों ने दीक्षा के बाद एक सम्वत्सर के उपवास का उल्लेख किया है। किन्तु यदि परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उल्लिखित पारणा-तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया को स्वीकार किया जाय तो दीक्षा तिथि के बाद एक सम्वत्सर (वर्ष) से 1 माह 8 दिन का समय अधिक हो जाता है, जो तिलोयपण्णत्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों के सन्दर्भों में प्रमाणित नहीं होता। अतः भगवान ऋषभदेव की प्रथम पारणा-तिथि एवं अक्षयतृतीया का सम्बन्ध विद्वानों के लिये विचारणीय विषय है।

यदि दीक्षा के समय छट्ठ उपवास लेने का अर्थ दो उपवास किया जाय, जैसा कि श्वेताम्बर परम्परा में किया गया है[27] तो दीक्षा के एक सम्वत्सर बाद पारणा करने का औचित्य स्वीकार करना कठिन है। अतः वैशाख शुक्ला (अक्षय) तृतीया का सम्बन्ध ऋषभदेव की पृथक पारणा तिथि से कैसे जुड़ा, इस सम्बन्ध में विशेष खोज होनी चाहिये। इस सम्भावना को भी ध्यान में रखना होगा कि यदि पारणा तिथि वैशाख शुक्ल तृतीया सही है तो उसके एक वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला तृतीया को ही भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा ली हो, चैत्रकृष्णा नवमी को नहीं। किन्तु किसी भी ग्रन्थ में दीक्षातिथि के सम्बन्ध में मतभेद अभी प्राप्त नहीं है, सिवाय नवमी या अष्टमी के। स्वयं पष्पदन्त ने अपने महापुराण में वसन्त (चैत्र) माह के कृष्णपक्ष की नवमी के दिन ऋषभदेव की दिगंबरी दीक्षा होना स्वीकार किया है-

मोहजालु जिह भेल्लवि अंबरु, झत्ति महामुणि हुवऊ दियंबरु।
उत्तरसाढरिक्खि णवमिइ दिणि, महुमासहं पक्खम्मि सियचंदिणि॥

- महापुराण 8.26

पुष्पदन्त ही प्रथम कवि हैं, जो ऋषभदेव की पारणा-तिथि के दिन को अक्षयतृतीया

के रूप में प्रसिद्ध होना मानते हैं। अतः यह समस्या विभिन्न स्रोतों से प्रामाणिक साक्ष्य मिलने पर ही समाधित हो सकेगी।

2-निर्वाण-तिथि की समस्या :

तिलोयपण्णत्ति में भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण-तिथि को तीन गाथाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। गाथा 1196 में कहा गया है कि ऋषभ माघ कृष्णा चतुर्दशी पूर्वान्ह में अपने जन्म नक्षत्र (उत्तराषाढा) के रहते कैलाश पर्वत से दस हजार मुनिराजों के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए।[28] गाथा 1250 में कहा गया है कि ऋषभ जिनेन्द्र तृतीय काल में 3 वर्ष साढ़े 8 माह शेष रहने पर मोक्ष गए।[29] तथा गाथा 1287 में निर्देश है कि ऋषभ के मोक्षगमन के पश्चात 3 वर्ष साढ़े 8 माह व्यतीत होने पर चतुर्थ काल का प्रवेश हुआ।[30] इन तीनों सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव ने अपनी 84 लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर तृतीय काल में जब 3 वर्ष आठ माह शेष थे तब माघ कृष्णा चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया।

दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों हरिवंशपुराण (जिनसेन) एवं महापुराण (पुष्पदन्त) में ऋषभदेव के निर्वाण की तिथि का उल्लेख नहीं है। पुष्पदन्त ने इतना कहा है कि जब ऋषभदेव की आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब वे कैलाश पर्वत पहुँचे [31] और पूर्णिमा के दिन पर्यंक आसन में बैठ गए।[32] यह किस माह की पूर्णिमा थी, उसका उल्लेख ग्रन्थ में नहीं है। अन्त में केवल इतना कहा गया है कि वे अपने स्वभाव से जाकर परमपथ में लीन हो गये।[33] जिनसेन ने अपने संस्कृत महापुराण में इस बात को और स्पष्ट किया है कि जब आयुष्य के चौदह दिन शेष रह गये तब योगों के निरोध कर पौषमासी की पूर्णमासी के दिन ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर स्थित हो गये।[34] और माघकृष्ण चतुर्दशी को उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[35]

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में समवायांगसूत्र में कहा गया है कि ऋषभ अर्हत तीसरे सुषमा-दुषमा आरे के अन्तिम भाग में 89 अर्धमासों (3 वर्ष, 8 माह 15 दिन) के शेष रहने पर कालधर्म को प्राप्त हुए।[36] कल्पसूत्र में उल्लेख है कि तीसरे आरे के मात्र 3 वर्ष साढ़े 8 माह बचने पर, हेमन्त ऋतु के तीसरे एवं पाँचवें पक्ष में माघकृष्णा त्रयोदशी को अष्टापद पर्वत से ऋषभदेव कालधर्म को प्राप्त हुए।[37] इसी का समर्थन जम्बूदीप प्रज्ञप्ति में हुआ है।[38] परवर्ती ग्रन्थ भी इसी तिथि का अनुगमन करते हैं।[39]

वैदिक ग्रन्थों में ऋषभदेव एवं शिव के स्वरूप में कई बातों के समानता प्राप्त होती है। ईशान संहिता में कहा गया है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी को आदिदेव शिव लिंग के रूप में प्रकट हुए। उन्हें शिवपद की प्राप्ति होने से इस तिथि को "शिवरात्रि" के रूप में याद किया जाता है।[40]

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में प्रायः माघकृष्णा चतुर्दशी या त्रयोदशी को भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण तिथि मानी गई है, एवं तीसरे आरे के 3 वर्ष बाद साढ़े 8 माह शेष भी माने गये हैं। भारतीय परम्परा में नये वर्ष विक्रम सम्वत् प्रारम्भ श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से होता है। श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से साढ़े 8 माह पूर्व का समय कार्तिक कृष्णा अमावस्या (या चतुर्दशी का अंतिम पहर) बैठता है, जबकि ऋषभदेव का मोक्ष माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ था। अतः उसके बाद तृतीय आरे के 3 वर्ष साढ़े पाँच माह ही शेष रहते हैं, 3 वर्ष

साढ़े 8 माह नहीं। यह तीन माह का अन्तर भगवान् ऋषभदेव के जीवनकाल में कुछ समस्याएँ उत्पन्न करता है। यथा-

1. यदि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही निर्वाण-तिथि स्वीकार किया जाय तो ग्रन्थों में जो तीसरे आरे के 3 वर्ष 8 माह शेष रहने की बात कही गई है, वह प्रामणिक नहीं ठहरती। क्योंकि श्रावण प्रतिपदा को चतुर्थकाल प्रारम्भ होने से इसमें 3 माह कम पड़ते हैं।
2. तिलोयपण्णाति [41] एवं अन्य ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व कही गई है, जो तीसरे आरे के 3 वर्ष शेष रहते कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को पूर्ण हो जाती है। यदि उन्होंने माघ कृष्ण चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया है तो उनकी आयु 84 लाख पूर्व 3 माह होना चाहिये, जबकि ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।
3. इसी तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि भगवान महावीर चतुर्थकाल के 3 वर्ष साढ़े 8 माह शेष रहने पर मोक्ष गये थे।[42] महावीर की निर्वाण-तिथि कार्तिक कृष्णा (चतुर्दशी) अमावस्या है।[43] उससे लेकर अषाढ़ी पूर्णिमा तक साढ़े 8 माह का समय शेष रहता है और श्रावण प्रतिपदा पंचमकाल प्रारम्भ हो जाता है। जब महावीर की निर्वाण-तिथि कार्तिक कृष्णा अमावस्या होने से चतुर्थकाल के 3 वर्ष साढ़े 8 माह पूरे होते हैं तो भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण तिथि भी कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी (या अमावस्या का उषाकाल) होनी चाहिये, माघकृष्णा चतुर्दशी नहीं। तभी तीसरे काल के 3 वर्ष साढ़े 8 माह की अवधि शेष रहने की बात प्रमाणित हो सकेगी।
4. एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि प्रायः सभी ग्रन्थों के आधार पर भगवान ऋषभदेव का जन्म चैत्रकृष्णा नवमी (या अष्टमी) को हुआ है[44] एवं उनका निर्वाण माघकृष्णा चतुर्दशी को। श्रावण प्रतिपदा से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता है। अतः ऋषभदेव के जन्म से लेकर निर्वाण तक एक वर्ष में 10 माह 6 दिन का अथवा 1 माह 1 दिन का अन्तर है। जबकि ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व वर्ष कही गई है। उसमें माह एवं दिनों को कोई उल्लेख नहीं है। तब ऋषभदेव के जन्म एवं निर्वाण की तिथि एक ही होनी चाहिये, चाहे वह चैत्रकृष्ण 9वीं हो अथवा माघकृष्णा चतुर्दशी।

ऋषभदेव के जीवन की प्रमुख तिथियाँ चैत्रकृष्ण नवमी से जुड़ी हुई हैं। उनका जन्म इसी तिथि में हुआ। दीक्षा इसी तिथि को हुई। एक वर्ष के उपवास के बाद पारणा भी इसी दिन चैत्रकृष्णा नवमी को होना चाहिये। अतः उनकी आयु के 84 लाख पूर्व वर्ष भी इसी तिथि को पूरे होने चाहिये। इस कारण ऋषभ्देव की निर्वाण तिथि चैत्रकृष्णा अष्टमी या नवमी होना चाहिये। किन्तु इसका उल्लेख किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है। अतः इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार होना चाहिये।

5. हरिवंशपुराण में जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव की गर्भ में अवतरण की घटना का वर्णन करते हुए कहा कि जब तीसरे काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में ऋषभदेव का

स्वर्गावतरण (माता के गर्भ में प्रवेश) हुआ।[45] और नौ माह पूर्ण होने पर उत्तराषाढ़ नक्षत्र के समय माता ने ऋषभ को जन्म दिया। अर्थात् ऋषभदेव के जन्म होने के समय तीसरे काल के 84 लाख पूर्व 3 वर्ष साढ़े 8 माह में से गर्भकाल के 9 माह की अवधि बीत चुकी थी। जन्म के समय तब तीसरे काल के 84 लाख पूर्व 1 वर्ष साढ़े 11 माह ही शेष बचने चाहिये। जबकि तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि ऋषभदेव की उत्पत्ति (जन्म) के समय 84 लाख पूर्व, तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे[46] इनमें से किसे सही माना जाये ?

संभवतः गर्भ प्रवेश और जन्म के बीच की अवधि (लगभग 9 या साढ़े आठ माह) की गणना छूट जाने के कारण ही भगवान् ऋषभदेव की जन्म-तिथि ओर निर्वाण तिथि में भिन्नता की परम्परा विकसित हुई है। 84 लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर ऋषभ की निर्वाण-तिथि जो चैत्रकृष्णा नवमी होनी चाहिये थी, वह 9 माह के बाद माघकृष्णा चतुर्दशी हो गई। वस्तुतः ऋषभदेव के जन्म के समय तीसरे आरे के 84 लाख पूर्व एवं लगभग 3 वर्ष का समय ही शेष होना चाहिये। साढ़े आठ माह के समय में कहीं कोई भ्रमित पराम्परा विकसित हो गयी प्रतीत होती है। यद्यपि यह सब धार्मिक एवं पौराणिक सम्बन्ध बैठना ही चाहिये। कौनसी कड़ी कहाँ से छूटी है, उसी को खोजने का प्रयत्न होना चाहिये। जैन संघ. की परम्परा के ऐतिहासिक सन्दर्भों के अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति में प्राप्त प्राचीन राजवंशों आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक सन्दर्भों के मूल्यांकन के लिये स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. तिलोयपण्णत्ति अधिकार 4, गा. 533 एवं 560
2. वही, गा. 592
3. वही, गा. 586
4. वही, गा. 597
5. वही, गा. 617
6. वही, गा. 651
7. वही, गा. 686
8. तियवासा अडमासा, पक्खं तह तदियकाल अवसेसे।
   सिद्धो उसह जिणिंदो, वीरो तुरियस्स तेत्तिए ससे ॥–वही गा. 1250
9. कल्पसूत्र, 193, धम्मकहानुयोग, पृ. 7
10. त्रिशिष्टीशलाकापुरुषचरित 1.3, 1-17, पृ. 68
11. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 336

12. एक्क वरिसेण उसहो, उच्छरस कुणइ पारणं अंवेरे ।
गो-खीरे णिप्पण्णं अण्ण विदियम्मि दिवसम्मि ॥ - गा. 678

13. आवश्यकनिर्युक्ति गा. 345 एवं त्रिशिष्ट. 1.3, 301-302

14. तिलोयपण्णत्ति, गा. 651

15. कल्पसूत्र, 195.57

16. तिलोयपण्णत्ति, गा. 1196

17. जम्बूदीप प्रज्ञप्ति, 48.91

18. तिलोयपण्णत्ति अधिकार 4, गा. 678

19. हरिवंशपुराण, सर्ग 9, श्लोक 183-190

20. वही, श्लोक 142, महापुराण (जिनसेन), 100/20/454

21. वही, श्लोक 156

22 पूरियसंवच्छर उववासें, अक्खयदाणु भणिउं परिमेसें ।
तहु दिवसउ अत्येण समयउ, अक्खय तइय णाऊं संजायउ ॥
-महापुराण, संधि 9, कड़वक 11

23. समवयांगसूत्र 157

24. वसुदेव हिण्डी - अणाउलो संवच्छरं विहरह... ।.

25. राधूशुक्ल तृतीयायां दानमासीत्तदक्षयम ।
पर्वाक्षयतृतीये ति, ततोऽपापि प्रवर्तते ॥-त्रिशिष्टि, 1 .3 । .301

26. श्री युगादिदेव पारणक पवित्रितायां वैशाख शुक्ल पक्ष तृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिता: । - वही ।

27. करिता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं, कल्पसूत्र, सूत्र 195 ।

28. माघस्स किण्ह-चोद्दसिपुव्वण्हे णियय-जम्म-णक्खक्ते ।
अट्ठम्मि उसहो, अजुदेण सम गओमोक्खं ॥ -गाथा 1196 ।

29. वही, गा. 1260

30. उसहजिणे णिव्वाणे वासन्तए-अट्ठमास मासद्धे ।
वोलीणम्मि पविट्ठो दुस्सम-सुसमो तुरिम-कालो ॥ -गा. 1287

31. महापुराण (अपभ्रंश), संधि-37, कड़वक 18

32. थिउ पुण्णिमा दियहि जिणाहिवइ वधिवि पलियंकासणु । -वही, घत्ता 18

33. सप्रहावै जाइवि परमपए परमेसरू सपण्णउ- । -वही, घत्ता 20

34. महापुराण (संस्कृत) सर्ग 17, श्लोक 322-329,

35. वही, 37-3

36. समवायांग, 89 समवांय, सूत्र 412, पृ. 149, 35 - कल्पसूत्र, सूत्र 199, पृ. 272

37. जम्बू, 48 I.91

38. त्रिशिष्ठि, 1.6, सत्तरि-मय प्रकरणद्वार, 147 गा. 306

40. माघेकृष्णे चतुर्दश्यामादि देवो महानिशि ।
शिवलिंगतयोद्भूतः कौटिसूर्य-समप्रभः ॥ - ईशानु संहिता

41. उसहादि-दससु आऊ चुलसीदी तह बहत्तरी सट्ठी ।- वही, गा. 586

42. तियवासा अडमासा पक्खं तह तदियकाल अवसेसे ।
सिद्धो उसहजिणिंदो, वीरो तुरियस्स तेत्तिए सेसे ॥- वही, अ. 4, गा. 1240

43. कत्तिय-किण्हे चोद्दसि, पज्जूसे सादि-णाम-णक्खते ।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसहो सिद्धो ॥ -तिलोय, - वही, गा. 1219

44. (क) जोदो हु अवज्झाए उसहो मरूदेवि-णाभिराएहि ।
चेत्तसिय-णवमीए, णक्खते उत्तरासाढे ॥- तिलोय, 4 I.533
(ख) सुसम-दुसमम्मि णामे सेसे चउसीदि-लक्खपुव्वाणि ।
वास-तए अड-मासे इगि-पक्खे उसह उप्पत्ति ॥- वही 4 I.560
(ग) देवेन्द्रमुनिः ऋषभदेव - एक परिशीलन, उदयपुर, 1967, पृ. 130
(घ) चेतबहुलट्ठ दुमीए जातो उसमो असाढनक्खते ।
जम्मकामहो य सव्वो नेयव्वो जाव घोसणयं ॥ -आवश्यकनिर्युक्ति, 184

45. तृतीय कालशेषे ऽ सावशीतिश्चतुरूतरा ।
पूर्व लक्षाब्धि वर्षाष्ट मास पक्ष युतास्तदा ॥
स्वर्गावतरणं जैनमाषाढ बहुलस्य तु ।
द्वितीयामुत्तराषाढ नक्षत्रे ऽ जगन्नतम् ॥ - वही सर्ग 8, श्लोक 17-18 ।

46. तिलोयपण्णत्ति, अधि. 4, गा. 560 ।

❑❑❑

अष्ठम

ऋषभदेवचरितं की महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियां

श्रमण परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनचरित को आधार बनाकर अनेक कवियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं अन्य भारतीय भाषाओं मे ग्रन्थ लिखे हैं। ऋषभदेव के जीवन एवं तत्सम्बन्धी साहित्य का उल्लेख विद्वानों ने कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी किया है।[1] देश के विभिन्न प्रान्तों में स्थापित ग्रन्थ-भण्डारों के जो सूची-पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें आदिनाथ के चरित एवं स्तवन से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया गया है। कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी ऋषभदेवचरित सम्बन्धी साहित्य के सन्दर्भ प्राप्त हैं। किन्तु इन सब स्रोतों का अच्छी तरह उपयोग कर अभी तक ऋषभदेवचरित सम्बन्धी साहित्य की कोई एक विस्तृत सूची तैयार नहीं हो सकी है, जिसकी नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत निबन्ध में राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की कतिपय प्रमुख पाण्डुलिपियों का परिचय देने का प्रयत्न है। यद्यपि राजस्थान में इस विषयक हिन्दी एवं राजस्थानी की भी अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हैं।

ऋषभदेव के जीवन का वर्णन अर्धमागधी आगमों, प्राकृत काव्यों एवं तिलोयपण्णत्ति आदि प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों में संक्षेप में प्राप्त होता है। किन्तु जब से तिरसठ शलाका महापुरुषों के चरित लिखने का क्रम चला, ऋषभदेव चरित विस्तार से लिखा जाने लगा। जिनसेन के आदिपुराण, पुष्पदन्त के महापुराण एवं शीलाचार्य (शीलांक) के चउप्पन्नमहापुरिसचरियं ऋषभदेवचरित के आधारग्रन्थ कहे जा सकते हैं। पौराणिक शैली में लिखे गये इन ग्रन्थों की परम्परा में कई कवियों ने ऋषभचरित लिखे हैं।

(क) प्राकृत ग्रन्थ :

भगवान आदिनाथ ऋषभदेव के जीवनचरित को विस्तार से जिन प्राकृत ग्रन्थों में वर्णित किया गया है, उनमें 9वीं शताब्दी के शीलंकाचार्य का "**चउपन्नमहापुरिसचरियं**" नामक ग्रन्थ प्रमुख है। यह ग्रन्थ छप चुका है,[2] किन्तु इसकी पाण्डुलिपि जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार में सुरक्षित है। इसी परम्परा में प्राकृत में बारवीं शताब्दी में भद्रेश्वरसूरि ने कहावलि नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें ऋषभदेव का चरित प्राकृत ग्रन्थ में दिया गया है। यह ग्रन्थ बड़ौदा से प्रकाशित है।[3] इसकी एक पाण्डुलिपि राजस्थान में सुरक्षित है। इसी शताब्दी के प्राकृत कवि आम्र ने भी चउप्पन्नमहापुरिसचरियं ग्रन्थ प्राकृत गाथाओं में लिखा है। यह ग्रन्थ अभी

तक अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि खम्बात के ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध है।[4]

ऋषभदेवचरित पर प्राकृत में कुछ स्वतन्त्र रचनाएं भी लिखी गयी हैं। सं. 1160 में वर्द्धमानाचार्य ने **आदिनाहचरियं** नामक ग्रन्थ लिखा है। इसकी एक पाण्डुलिपि जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार में उपलब्ध है, जिसका लेखनकाल वि.सं. 1339 है।[5] राजस्थान के इसी ग्रन्थ भण्डार में 13वीं शताब्दी में प्राकृत में रचित **आदिनाथदेशनोद्धार** की प्रति उपलब्ध है। यह कुल चार पन्नों की प्रति है। यह ग्रन्थ मूल में 88 प्राकृत गाथाओं का है। इस ग्रन्थ पर **आदिनाथ-देशनोद्धार स्तबक** भी लिखा गया है।[6] राजस्थान के भट्टारक दि. जैन मंदिर, अजमेर के भण्डार में प्राकृत में लिखित "**आदिनाथदेशनाद्धार**" नामक पांच पन्नों की कृति है। इसमें ऋषभदेव के उपदेशों का सार दिया गया है। जयपुर के पाटौदी दिग. जैन मंदिर के शास्त्र-भण्डार में पद्मनंदिकृत **ऋषभदेववस्तुति** कृति है, जो ग्यारह पन्नों की है।[7] प्राकृत आदिनाथ के जीवन पर भुवनतुंगसूरि ने 323 गाथाओं में **रिसभदेवचरियं** नामक ग्रन्थ लिखा है। इसका दूसरा नाम **धर्मोपदेशशतक** भी है। पाटण ग्रन्थ-भण्डार के अतिरिक्त राजस्थान के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन के भण्डारों में भी इसकी पाण्डुलिपि सुरक्षित है।[8]

(ख) अपभ्रंश-ग्रन्थ :

प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भाषा में भी चौबीस तीर्थंकरों के जीवन पर अनेक कवियों ने प्रकाश डाला है। उनमें महाकवि पुष्पदन्तकृत **महापुराण** अपभ्रंश की विशाल रचना है, जो ऋषभदेव के चरित पर विस्तार से प्रकाश डालती है। इसका दूसरा नाम **आदिपुराण** भी प्रसिद्ध है। राजस्थान का शायद ही ऐसा कोई ग्रन्थभण्डार हो, जिसमें इस आदिपुराण की पाण्डुलिपि प्राप्त न हो। जयपुर, बूंदी, अजमेर, उदयपुर, महावीरजी, ब्यावर, नागौर, झालरापाटन में इस ग्रन्थ की कई पाण्डुलिपियाँ हैं। इस ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रति वि.सं. 1461 को जयपुर के आमेरशास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। इन प्रतियों का परिचय डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल एवं डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने अपने ग्रन्थों में दिया है।[9]

अपभ्रंश के इस आदिपुराण की जयपुर में उपलब्ध दो पाण्डुलिपियाँ सचित्र हैं। आमेरशास्त्र भण्डार की प्रति के 14वें पन्ने पर स्वप्न-दर्शन का सुन्दर चित्र बना हुआ है। ऋषभदेव की माता मरुदेवी जो 16 स्वप्न देखती हैं, उन्हें आकर्षक रंगों और शैली में चित्रित किया गया है। दिग. जैन तेरापन्थी मंदिर, जयपुर में सुरक्षित आदिपुराण की पाण्डुलिपि में बड़े सुन्दर चित्र हैं। इन पाण्डुलिपियों की चित्रकला भारतीय कला के अध्ययन के लिए विशेष सामग्री प्रस्तुत करती है।[10] डॉ. मोतीचन्द्र एवं डॉ. सरयू दोषी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

अपभ्रंश में ऋषभदेवचरित से सम्बन्धित अन्य कई रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के ग्रन्थभण्डारों में प्राप्त हैं। उनमें से निम्न प्रमुख हैं :-

1. ऋषभचरितस्तवन (जिनप्रभ)
2. बाहुबलिदेवचरिउ (धनपाल)
3. त्रिंशतजिनचाउबीसी (महण)
4. आदि जिनकलश (अज्ञात)
5. ऋषभजिनस्तुति
6. आदिनाथ की आरती

7. ऋषभपारणकसंधि
8. ऋषभविवाहलो[11]
9. आदिपुराण (रइधू)
10. ऋषभजिन जन्माभिषेक

ऋषभचरित अपभ्रंश कवियों के लिए प्रेरणादायक रहा है। कई कवियों ने अपने अन्य ग्रन्थों के मंगलाचरण में ऋषभदेव की स्तुति की है। कवि ऋषभजिनेन्द्र की भक्ति को पाप-कर्मों का प्रक्षालन करने वाली एवं मोक्ष सुख को देने वाली मानता है। इसीलिए वह ऋषभचरित का वर्णन करना चाहता है। कवि रत्नप्रभसूरि कहते हैं-

ज किर पापथंकु पक्खालइ; भवियह मोक्खुसुक्खु दिक्खालई।
संधिवंध संबंध रवन्नउं, चरिउ त रिसहजिणिंदह वन्नउं॥

- ऋषभपारणकसंधि

ऋषभचरित लिखने वाले अपभ्रंशकवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में जीवन-दर्शन को सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। उनका चिन्तन है कि शासक या राजा को प्रजा को कभी सताना नहीं चाहिए। क्योंकि जो राजा असहाय नारियों, बच्चों, निर्धनों को सताता है, उनका धन छीन लेता है वह जनता की आह की आग में भष्म हो जाता है -

वुडढण्णारि-डिंभय संतावणु, जो धण हरण करई भीसावणु।
जण-णीसास सिहिहिं सो डज्झइ, अण्णु वि दुक्किय कम्में बज्झइ॥[12]

महाकवि तुलसीदास ने भी इसी बात का संकेत किया है -

तुलसी आह गरीब की कबहुं न खाली जाय।
मुए चाम के योग तें लोह भस्म हुई जाय॥

(ग) संस्कृत ग्रन्थ :

ऋषभदेवचरित पर विस्तृत काव्यमय रचना सर्वप्रथम संस्कृत में प्राप्त होती है। वह है - आचार्य जिनसेन का **आदिपुराण**। राजस्थान में इस आदिपुराण की अनेक पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है,[13] फिर भी इसकी पाण्डुलिपियों का कई दृष्टियों से विशेष महत्व है। वे देश की प्राच्च सम्पदा के रूप में हैं। जैसलमेर के ग्रन्थभण्डार में ऋषभचरित का वर्णन करने वाले ग्रन्थ "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं" (हेमचन्द्र) की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि सन् 1328 की है, जिसमें कवि की महत्वपूर्ण प्रशस्ति दी हुई है। दिग. जैन तेरापन्थी मंदिर, जयपुर में सन् 1606 की आदिपुराण की एक पाण्डुलिपि है, जिसमें 200 से भी अधिक चित्र बने हुए हैं। ये चित्र, यद्यपि पूर्ण नहीं हैं, फिर भी चित्रकला के इतिहास के लिए विशेष उपयोगी हैं। राजस्थान के अलवर संभाग में टोडारायसिंह गांव के पार्श्वनाथ दिग. जैन मंदिर में 15वीं शताब्दी (1480) में आदिपुराण की एक पाण्डुलिपि लिखी गयी थी।[15]

राजस्थान के ग्रन्थर-भण्डारों का सर्वेक्षण करके विद्वानों ने जो अभी तक कुछ ग्रन्थ सूचियां प्रकाशित की हैं, उनमें ऋषभदेवचरित सम्बन्धी संस्कृत की 30-35 रचनाएं उपलब्ध

हैं। इन रचनाओं की सैंकड़ों पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के भण्डारों में सुरक्षित हैं। संस्कृत की कुछ प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं[16] :-

1. पुराणसार (मुनि श्रीचन्द्र)
2. पुराणसार संग्रह (दामनंदि)
3. महापुराण (मल्लिसेन)
4. महापुरुषचरित (मेरुतुंग)
5. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित
6. आदिनाथचरित (विनयचंद्र)
7. आदिपुराण (सकलकीर्ति)
8. पद्मानन्द (अमरचन्द्र सूरि)
9. आदिजिनधर्मदेशना (सोममण्डल)
10. आदीश्वरफाग
11. आदिपुराण (धर्मकीर्ति)
12. ऋषभदेवचरित (जयसिंह)
13. त्रिशष्टि स्मृति (आशाधर)
14. आदिपुराण (पद्मकीर्ति)
15. आदिपुराण (प्रभाचन्द्र)
16. आदिजिनधर्मदेशना।

इनमें से जैसलमेर ग्रन्थ-भण्डार में सुरक्षित जयसिंहसूरि के ऋषभदेवचरित की पाण्डुलिपि प्राचीन है और उसमें ऋषभदेव, श्रावक एवं श्राविका के चित्र भी बने हैं। कवि कहता है कि ऋषभ का चरित सर्वश्रेष्ठ है और सदैव आनन्ददायक है -

श्रीमद् वृषभदेवस्य चरित्रमिदमुत्तमम्।
सदैव सततानन्दहेतवेस्तु स्तुति स्पृशाम्॥

ऋषभदेवचरित सम्बन्धी उपर्युक्त प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत रचनाओं की कतिपय पाण्डुलिपियों का संकेतमात्र की यहां किया जा सका है। वस्तुतः अभी राजस्थान के जैन ग्रन्थभण्डारों के सूक्ष्म सर्वेक्षण की आवश्यकता है। तभी निश्चित और प्रामाणिक तथ्य सामने आ सकेंगे। ऋषभदेवचरित की इन पाण्डुलिपियों के भीतर कितनी महत्वपूर्ण सामग्री छिपी हुई है, यह तो पाण्डुलिपियों के सूक्ष्म अध्ययन से ही प्राप्त हो सकेगी। किन्तु इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि पाण्डुलिपि सर्वेक्षण, सम्पादन, अनुवाद एवं सम्पादित ग्रन्थों के प्रकाशन के कार्य में विद्वान और समाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं दोनों के जुड़ने की आवश्यकता है। जैसे पहले श्रावक ग्रन्थ लिखाने में प्रेरणा और सहयोग देते थे कवियों को, वैसे अब उनके सम्पादन-कार्य में विद्वानों को प्रेरणा और साधन जुटाने की आवश्यकता है। तभी श्रमण परम्परा के महापुरुषों का जीवन और चिन्तन विश्व के समक्ष आ सकेगा।

संदर्भ

1. देवेन्द्र मुनि शास्त्री : भगवान ऋषभदेव - एक परिशीलन, उदयपुर, 1977
2. भोजक, ए.एम. : चउपन्नमहापुरिसचरियं, वाराणसी, 1961
3. शाह, यू.पी. : कहावलि, बड़ौदा
4. चौधरी, गुलाबचन्द : जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग 6 वाराणसी, 1973, पृ 7

5. मुनि पुण्यविजय : कैटलाग आफ प्राकृत एण्ड संस्कृत मेनुस्क्रिप्टस्, जैसलमेर कलेक्शन, अहमदाबाद, 1978, पृ. 98

6. वही, पृ. 311 एवं 208

7. कासलीवाल, के.सी. : राजस्थान के जैन ग्रन्थभण्डारों की सूची, भाग 4 एवं 5, जयपुर

8. वेलणकर, एच.डी. : जिनरत्नकोश, पूना, 1944, पृ. 57

9. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, दिल्ली, 1972 पृ. 116-17

10. कासलीवाल, के.सी. : जैन ग्रन्थ भण्डाराज् इन राजस्थान, जयपुर, 1967, पृ. 208

11. पारख, जौहरीमल : जिनभद्रसूरि ज्ञान-भण्डार जैसलमेर हस्तलिखित ग्रन्थों का सूची-पत्र, द्वितीय खण्ड, 1988, पृ. 216

12 वैद्य, पी.एल. एवं जैन, देवेन्द्र कुमार : महापुराण (पुष्पदन्त) 1-5 भाग, दिल्ली, भाग दो भी भूमिका

13 जैन, पन्नालाल : आदिपुराण (जिनसेन), दिल्ली, 1-2 भाग

14. कासलीवाल : जैन ग्रन्थ भण्डाराज् इन राजस्थान, पृ. 62

15. जैन, पी.सी. : डिस्क्रिप्टिव केटलाग आफ मेनुस्क्रिप्टस् इन द भट्टारकीय ग्रन्थ-भण्डार नागौर, जयपुर, 1981, 1985 आदि केटलाग।

❑❑❑

नवम

प्राकृत पांडुलिपियों का वैशिष्ट्य

श्रमण संस्कृति में हस्तलिखित ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा है। लेखन कला के विकास में जैन आचार्यों, मुनियों व श्रावकों का महत्वपूर्ण योगदान है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा में यह कहा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को लिपिकला का ज्ञान दिया था। भगवान् महावीर के उपदेश बहुत समय तक मौखिक परम्परा द्वारा ही सुरक्षित रहे हैं। लगभग 1-2 शताब्दी तक संभवतः जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने की बात सोची जाने लगी थी। सम्राट खारवेल के अभिलेख में आगम लिखवाने का उल्लेख है। अनुयोगद्वारसूत्र में भी पत्रारूढ़ श्रुत (ग्रन्थ) को द्रव्यश्रुत माना गया है। किन्तु जैन आगमों को लिखित स्वरूप आचार्य देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में संवत् 980 में बल्लभी में आयोजित सम्मेलन में ही प्राप्त हुआ है। यद्यपि इसके पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति तथा कुन्दकुन्दाचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थलेखन का प्रारम्भ कर चुके थे।

पांडुलिपि-सम्पादन में आज जो पाठान्तरों, सम्प्रदायों तथा अर्थान्तरों की समस्याएं हैं, वे प्राचीन समय में भी थीं। जैन आगम-साहित्य एवं उसके व्याख्या-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य देवर्द्धिगणि के समक्ष भी आगमों के कई मौखिक पाठान्तर प्रचलित थे। उस समय आगमों का जो सर्वप्रथम लिपिबद्ध सम्पादन हुआ उसमें उन सभी पाठान्तरों को सम्मिलित कर लिया गया था। आगे चलकर व्याख्या साहित्य में भी कई पाठान्तर सुरक्षित होते रहे हैं। अतः पाठान्तर की एक लम्बी परम्परा है। पाठान्तर होने के कई कारण हैं, जैसे – (1) आचार्यों की परम्परा-भेद से पाठान्तर होते हैं। (2) जैन ग्रन्थों के लेखक प्रायः मुनि रहे हैं। वे जब किसी ग्रन्थ की पांडुलिपि का वाचन करते हुए उपदेश देते थे तो व्याख्या करते हुए कई अन्य गाथाएं आदि उसी पांडुलिपि के हाशिये पर लिख देते थे। कालान्तर में जब उस पाण्डुलिपि की प्रति लिखी जाती थी तो हाशिये पर लिखी सामग्री भी मूलग्रन्थ में सम्मिलित हो जाती थी। (3) इसी प्रकार मूल ग्रन्थों की व्याख्या और टीका आदि में आये हुए कई पद कालान्तर में मूलपाठ के साथ मिला दिये जाते थे। (4) लिपि की अस्पष्टता एवं (5) लिपिकार का कवित्व भी कई बार अनेक पाठान्तरों को जन्म देता रहा है। (6) प्रदेशगत भिन्नता से भी कई पाठान्तर पांडुलिपियों में हुए हैं।[1] अतः सम्पादन कार्य में प्रवृत व्यक्ति के लिए इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ही पाठ-निर्धारण करना चाहिए। जैन ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेवसूरि के समक्ष भी प्रायः ये ही

कठिनाइयां थीं। उन्होंने लिखा है कि अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा (सत् सम्प्रदाय) तथा अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति (सत् ऊह) प्राप्त नहीं है। अनेक वाचनाएं हैं। पुस्तकें अशुद्ध हैं। कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं। अर्थविषयक मतभेद भी हैं।[2] फिर भी सम्पादन-कार्य करना है। इस प्रकार के अथक परिश्रमी जैनाचार्यों द्वारा ही प्राचीन ग्रन्थ-सम्पदा की सुरक्षा हुई है, जो आज हमारी एक थाती के रूप में है।

प्राकृत साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि जैन संघ की जीवन-पद्धति में ज्ञान-मीमांसा सर्वोपरि रही है। मुनि एवं गृहस्थ धर्म का महत्वपूर्ण पक्ष स्वाध्याय रहा है। आत्म-चिन्तन में स्वाध्याय जितना उपयोगी है, उतना ही शास्त्र-लेखन और ग्रन्थ-संरक्षण में उसका महत्व है। जैन समाज में प्राचीन समय से ही यह धारणा हो गयी थी कि शास्त्र-सम्बन्धी कोई भी कार्य करने से पुण्यलाभ होता है। अपभ्रंश कवि नरसेन ने कहा है:

एहु सत्थु जो लिहइ लिहावइ पढइ पढावइ कहइ कहावइ।

जो णरु-णारि एहु मणु भावइ पुणह अहिउ पुण्णफलु पावइ॥ – (वड्ढमाणकहा)

स्वाध्याय की इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सारे देश में ग्रन्थ-भण्डारों की स्थापना हुई है।[3] जैन, अजैन सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सुरक्षा इन ग्रन्थ-भण्डारों के प्रबन्ध द्वारा हुई है। सम्पादन कला से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री इन जैन भण्डारों में सुरक्षित है। अतः ये ग्रन्थ-भण्डार किसी भी भाषा व साहित्य के ग्रन्थ-सम्पादन के कार्य के लिए आज अपरिहार्य हो गये हैं। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों में इस दृष्टि से विपुल और महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।[4]

जैन साहित्य की पांडुलिपियों के अवलोकन से सम्पादन कला के लिए उपयोगी कई तथ्य प्राप्त होते हैं। जैन पांडुलिपियों के मर्मज्ञ विद्वान स्व. मुनि श्री पुण्य-विजय जी ने 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला' नामक अपने विस्तृत लेख में सम्पादनकला-सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारियां प्रस्तुत की हैं।[5] उसमें उन्होंने बताया है कि प्राचीन पांडुलिपियां कैसे लिखी जाती थीं, उनके लेखक कौन होते थे, लेखन सामग्री क्या होती थी, लिपि का स्वरूप कैसा होता था तथा जैन पांडुलिपियों की लिपि की खास विशेषताएं क्या थीं इत्यादि।

इन जैन ग्रन्थ-भण्डारों की पांडुलिपियों से पता चलता है कि ग्रन्थ लिखने के लिए अधिकतर ताड़पत्र, वस्त्र एवं कागज का प्रयोग किया जाता था। भोजपत्र में लिखा हुआ कोई भी जैन ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। सबसे पहले ताड़पत्र में ग्रन्थ लिखे गये हैं। पाटन, जैसलमेर, मूडविद्रि आदि के ग्रन्थ-भण्डारों में ताड़-पत्रीय पांडुलिपियां प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हैं। विद्वानों का मत है कि सबसे पुरानी ताड़पत्रीय पांडुलिपि जैसलमेर ग्रन्थ-भण्डार से प्राप्त हुई है। वह है, 1060 ई. में लिखी गयी **ओघनियुर्ति** की प्रति। पाटन भण्डार से सबसे अधिक लम्बी ताड़-पत्रीय प्रति मिली है 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' की, जो 37 इंच लम्बी है। वस्त्र पर यद्यपि अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये, किन्तु फिर भी जैन लेखकों ने वस्त्रों पर कई सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं। पाटन के शास्त्र-भण्डार में सबसे प्राचीन 1371 ई. का 62 पन्नों का वस्त्र पर लिखा एक ग्रन्थ मिला है।[6] कलात्मक चित्रों के लिए वस्त्रों का पर्याप्त उपयोग हुआ है। कई प्रकार की स्याही लेखन में प्रयुक्त होती थी। स्याही की निर्माण-प्रक्रिया का वर्णन भी जैन पांडुलिपियों में उपलब्ध है।[7]

देशकाल की भिन्नता के कारण जैन पांडुलिपियों की लिपि में भी कई भेद हो गये हैं। यतियों की लिपि, खरतरगच्छीय लिपि, मारवाड़ी लहियों (लेखकों) की लिपि, गुजराती लहियों की लिपि आदि में पर्याप्त अन्तर है। ग्रन्थ-सम्पादन में इन लिपियों की भेदरेखा की जानकारी आवश्यक है तभी शुद्ध पाठ-निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि जैन लिपि की कई विशेषताएं हैं, किन्तु निम्न प्रमुख विशेषताओं का यहां उल्लेख करना उपयोगी होगा।

1. पड़ीमात्रा :

प्राचीन समय में अक्षरों के साथ मात्राओं को लिखने का प्रचलन था। जैन ग्रन्थ-भण्डारों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की जो पांडुलिपियां मिली हैं, उनमें प्राचीन पांडुलिपियों में पड़ी मात्रा का प्रायः प्रयोग हुआ है। पहले लिखने की सामग्री बहुत सूक्ष्म होती थी। ताड़पत्र अथवा कागज का आकार छोटा होता था। अतः अक्षरों के ऊपर मात्राएं कम लगायी जाती थीं। पृष्ठमात्रा में काम चलाया जाता था। यथा-- के =ाक, कै =ाके, को =ाका, कौ =ाको आदि। पांडुलिपि-अन्वेषकों का कहना है कि जैन पांडुलिपियों में इस पड़ी मात्रा का प्रचलन प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक रहा है।[8] पाठ-सम्पादन में इस पद्धति का ज्ञान बहुत आवश्यक है। अन्यथा कई शब्द अशुद्ध उतार लिये जाते हैं। यथा :

तामानिकर = (तमोनिकर) — तामा-निकर, तरोनिकर आदि।

किसलयाकामल = (किसलय कोमल) —किसलया-कामल, आदि।

आजकल बंगला लिपि में पृष्ठ मात्रा का प्रचलन है, जो संभवतः मगध की प्राकृत भाषा में लिखित प्रतियों का प्रभाव है।

2. अक्षरात्मक अंक :

प्राचीन जैन पांडुलिपियों की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उनमें अंकों के

1 = नुं अथवा श्री1	7 = र्ग
2 = न, स्त्रि2	8 = र्झा
3 = म., श्री3	9 = उं
4 = वो अथवा के आदि।	10 = र्लृ, 20 = घा 40 = र्प्त
5 = ऋ अथवा नाृ	50 = छ
6 = फ, र्फ	

स्थान पर या उनके साथ-साथ अक्षरात्मक अंक भी प्रयुक्त हुए हैं। जिनभद्रगणि के 'जिनकल्पसूत्र' के भाष्य में मूल गाथाओं के अंक अक्षरात्मक अंकों में दिये गये हैं। अन्य पांडुलिपियों में पृष्ठसंख्या में भी अथवा छन्दसंख्या आदि में भी इस प्रकार के अंकों का प्रयोग देखा जाता है। श्री भंवरलाल जी नाहटा ने अपने लेख में इस प्रकार के अंकों के कुछ उदाहरण दिये हैं।

इस प्रकार के अक्षरात्मक अंकों का परिचय त्रिशती नामक प्राचीन गणित ग्रन्थ में दिया गया है। उसमें एक से दस हजार तक के अक्षरात्मक अंक लिखे हैं। इन अंकों की सामान्य जानकारी होने से सम्पादन-कार्य में कुछ सुगमता हो सकती है। ये अक्षरात्मक अंक संभवतः मांगलिक कारणों से प्रयुक्त हुए होंगे। हो सकता है कि इनके प्रयोग में गोपनीयता भी आधार रही हो।

3. शब्दात्मक अंक :

प्राचीन पांडुलिपियों एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों में शब्दात्मक अंकों का प्रयोग भी देखा जाता है। सम्पादक के लिए इनका ज्ञान बहुत आवश्यक है। शब्दात्मक अंकों का यद्यपि कोई निश्चित कोष नहीं है, किन्तु प्रयोग के आधार पर उनके संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं। एक अंक के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग देखे जा सकते हैं। यथा :

पितामह, चन्द्र, वसुधा = 1	पर्वत, मुनि, अश्व = 7
नेत्र, कर्ण, बाहु = 2	सर्प, कुंजर, मंगल = 8
लोक, काल, वचन = 3	निधि, तत्व, हरि = 9
वेद, सागर, आश्रम = 4	दिशा, कर्ण, प्राण = 10
बाण, इंद्रिय, पांडव = 5	नख = 20, जिन = 24, देव = 33,
रस, ऋतु, लेश्या = 6	कला = 72 आदि।

शब्दात्मक अंकों के प्रयोग वाली पांडुलिपियों के सम्पादन में बहुत सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा पंक्ति के आगे लिखा हुआ अंक (शब्दात्मक) भी पाठ में सम्मिलित हो सकता है। इन शब्दों के ज्ञान के द्वारा तिथि आदि के निश्चय करने में भी सहायता मिलती है।

4. पांडुलिपि-संशोधन के संकेत :

प्राचीन पांडुलिपियों को लेखक लिखकर अथवा लिखवाकर उसे फिर संशोधन की दृष्टि से पढ़ते थे। उस समय मूल पाठ में जिस प्रकार के संशोधन की आवश्यकता होती थी उसे विशेष चिन्ह द्वारा अंकित कर पत्र के हाशिये में लिख दिया जाता था। पांडुलिपि-सम्पादन में इस प्रकार के संशोधनों का बड़ा महत्त्व है। जैन परम्परा में गुरु-शिष्य की अनवरत परम्परा होने के कारण ऐसे संशोधन प्रायः होते रहते थे। कुछ पांडुलिपियां स्वयं लेखक द्वारा भी संशोधित पायी जाती हैं। संशोधन के इन संकेत-चिन्हों के कुछ उदाहरण यहां द्रष्टव्य हैं :

1. छूटे हुए पाठ को दिखाने वाले चिन्ह - आदि।
2. आकारांत मात्रादर्शक चिन्ह -
3. अन्य अक्षरसूचक चिन्ह - (जैसे-पओहर=पओधर)
4. अक्षर बदल जाने पर-2-1 यथा-चरण=चण २१ र)

5. छूटे हुए पाठ की पंक्ति का नम्बर-पं. ओ.ः।
6. शब्द और अक्षर का भेद। यथा-भहणह = महणह।
7. विभाग दर्शक संकेत-॥ यथा-श्लोक का एक चरण आदि।
8. विभक्ति, वचन दर्शकचिन्ह-1-1, 2-2, 3-3 =(अर्थात् प्रथमा एकवचन, द्वितिया द्विवचन, तृतीया बहुवचन)।
9. शब्द का पयार्य सूचकचिन्ह-= यथा-शशि = चन्द्र आदि।
10. विशेषण, विशेष्यसूचक चिन्ह- यथा-क्षीणे श ~ रीर आदि।

ये कुछ सामान्य संशोधन दर्शकचिन्ह हैं। इनके स्वरूप में भी विभिन्न पांडुलिपियों के प्रयोग में अन्तर आ गया है। किन्तु अभ्यास से उन्हें समझा जा सकता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में कुछ विशेष प्रकार के चिन्ह प्रयुक्त पाये जाते हैं।

5. भाषागत विशेषताएं :

देश की प्रायः सभी भाषाओं में जैन साहित्य लिखा गया है। प्राकृत और अपभ्रंश इस साहित्य की प्राचीन भाषाएं रही हैं। इन भाषाओं की हजारों पांडुलिपियां ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध हुई हैं, जिनमें से अद्यावधि बहुत कम प्रकाशित हो पायी हैं। इन पांडुलिपियों में विभिन्न कालों की देश में प्रचलित लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्राकृत एवं अपभ्रंश व्याकरण से सम्मत शब्दों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी इन ग्रन्थों में हुआ है, जिन्हें देशज शब्द कहा जाता है। हेमचन्द्र ने देशी नाममाला में ऐसे अनेक शब्दों का संग्रह किया है। किन्तु उसके बाहर के भी हजारों देशी शब्द जैन साहित्य की पांडुलिपियों में प्रयुक्त हुए हैं। सम्पादकों की सूक्ष्म दृष्टि एवं भाषागत बहुज्ञता ऐसे शब्दों के अर्थ खोजने में सहायक होती है। अतः जैन साहित्य का इस प्रकार से अध्ययन करने से अन्य ग्रन्थों के सम्पादन-कार्य में सहायता मिल सकती है। प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त कुछ देशज शब्द[9] द्रष्टव्य हैं :

णूम = माया,	अन्दु = जंजीर,	वोंदि = शरीर
जड्डु = हाथी,	घडा = गोष्ठी,	ओम = दुर्भिक्ष
क्रमणी = जूते,	फेल्ल = दरिद्र,	सिग्ग = परिश्रम
बोद्द = तरुण,	दूलय = छुरी,	वंठाण = अविवाहित

पांडुलिपि-सम्पादन में हर शब्द का अर्थ कोष अथवा व्याकरण की सहायता से नहीं खोजा जा सकता। प्रसंग और लोक-प्रचलन को भी आधार बनाया जा सकता है। अतः अपरिचित शब्द को पाठान्तर में डालने का ही विकल्प नहीं है। उसके सही अर्थ को खोजने का प्रयत्न भी किया जा सकता है।

आधुनिक भाषाओं की पांडुलिपियों में बहुत-से ऐसे शब्द प्रयुक्त मिल सकते हैं, जिनका मूल रूप संस्कृत में प्राप्त न हो। वे शब्द प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से भी सीधे आ सकते हैं। क्योंकि आज भी बहुत-से प्राकृत के शब्द हमारी बोलचाल की भाषा

अथवा साहित्य में प्रयुक्त हो रहे हैं। इस दृष्टि से भी हिन्दी की पांडुलिपियों के सम्पादन में प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का ज्ञान उपयोगी होगा।

जैन परम्परा की पांडलिपियों की समस्त विशेषताओं को प्रदर्शित करना श्रम-साध्य और अनुभव का कार्य है। उनका सम्पादन कैसे करना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी कोई दिग्दर्शक पुस्तक लिखे जाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ है।[10] किन्तु वगत सौ वर्षों में प्राकृत-अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाश में आये हैं। विदेशी एवं भारतीय विद्वान सम्पादकों ने इन ग्रन्थों के सम्पादन में जो पद्धतियां अपनायी हैं, वे आज सम्पादन कला की दस्तावेज के रूप में मानी जा सकती हैं। इन सम्पादित ग्रन्थों के प्राक्कथनों के अध्ययन से सम्पादन कला की कई बारीकियां सीखी जा सकती हैं। इस दृष्टि से डॉ. पी.एल. वैद्य, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, मुनि श्री पुण्यविजय जी, मुनि श्री जिनविजय जी, पं. दलसुख भाई मालवणिया, डॉ. एच.सी. भायाणी आदि ख्यातिप्राप्त सम्पादकों के ग्रन्थ सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त होने वाले विद्वान् को अवश्य देखने चाहिए। और उसे बनारस, कलकत्ता, जयपुर, जोधपुर, अहमदाबाद, बड़ौदा, पूना आदि स्थानों में स्थित शोध संस्थानों में जाकर सम्पादन-कला का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। तभी अभीष्ट ग्रन्थ-विशेष का सर्वांगीण सम्पादन-कार्य संभव है।

सन्दर्भ

1. अंगसुत्ताणि, भूमिका, मुनि नथमल
2. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति 1, 2-
   सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः ।
   सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥1 ॥
   वाचनाननामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः ।
   सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥2 ॥
3. डॉ. कासलीवाल, जैन ग्रन्थभण्डाराज इन राजस्थान, पृ. 3-7
4. डॉ. कासलीवार, राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की सूची (1-5 भाग)
5. लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के पुस्तकालय में उपलब्ध सामग्री।
6. डॉ. कासलीवाल, जैन ग्रंथ भंडाराज् इन राजस्थान, पृ. 13
7. श्री भंवरलाल नाहटा, जैन लेखन कला, राजस्थान का जैन साहित्य, पृ. 400-401
8. भंवरलाल नाहटा, वही, पृ. 402
9. द्रष्टव्य, प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ. जे.सी. जैन, पृ.693
10. द्रष्टव्य, ज्ञानपीठ पत्रिका, वर्ष 7, अंक 3 (1968)

❑❑❑

दशम

कुवलयमालाकहा में प्रतिपादित राजस्थान

राजस्थान के जालोर नगर में लिखित कुवलयमालाकहा यद्यपि आठवीं शताब्दी का एक कथाग्रन्थ है, किन्तु प्रसंगवश उद्द्योतनसूरि ने उसमें ऐसे कई तथ्य उद्घाटित किये हैं जिनसे राजस्थान एवं मालवा के जीवन पर नवीन प्रकाश पड़ता है। राजस्थान की संस्कृति पर ग्रन्थ लिखने वाले विद्वानों ने प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत में लिखे जैन साहित्य के ग्रन्थों में प्राप्त जानकारी का उपयोग करना प्रारम्भ किया है। किन्तु इस दिशा में गहराई में जाने की आवश्यकता है। तभी तथ्यों एवं उद्धरणों में प्रामाणिकता आ सकेगी। कुवलयमाला में राजस्थान के सम्बन्ध में विविध सन्दर्भ उपलब्ध हैं, जिनसे यहां के भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म एवं कला आदि पर कई नयी बातें जानने को मिलती हैं।

विभिन्न नाम :

राजस्थान के कई प्राचीन नाम इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उनमें से मरुदेश एवं गुर्जरदेश का उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है। मरुप्रदेश से सम्बन्धित तीन उल्लेख हैं। विन्ध्यपुर से कांचीपुर जाने वाला सार्थ मरुदेश जैसा था, जिसमें ऊंटों का समूह झूमकर चल रहा था।[1] मरुदेश अथवा मारवाड़ के निवासी 'मारुक' विजयपुरी की मंडी में उपस्थित थे जो कुरूप, मंद बुद्धि वाले, आलसी, अधिक भोजन करने वाले तथा खुरदरे एवं मोटे अवयवों वाले थे। वे अपनी बातचीत में 'अप्पाँ-तुप्पाँ' शब्दों का प्रयोग कर रहे थे।[2] तीसरे प्रसंग में कहा गया है कि जैसे मरुस्थली में प्यास से सूखे कंठ वाले पथिक के लिए रास्ते के तालाब का (गंदला) पानी भी शीतल जल के समान होता है, वैसे ही संसाररूपी मरुस्थली में तृष्णा से अभिभूत जीव को संतोष शीतल जल एवं सम्यक्त्व सरोवर के समान है।[3]

मरुदेश के ऊंटों की बहुलता एवं पानी की कमी उद्द्योतन के समय में भी थी। अतः उनका यह कथन मारवाड़ के जीवन को अभिव्यक्त करता है। इस प्रदेश के लिए मरुदेश के अतिरिक्त और कोई दूसरा नाम उद्द्योतन ने नहीं दिया है। अतः संभव है कि आठवीं शताब्दी में रेतीले प्रदेश मरुदेश के नाम से जाना जाता रहा हो। जबकि आगे चल कर 'हम्मीरमदमर्दन' के उल्लेख के अनुसार मरुदेश के अन्तर्गत जालोर, चन्द्रावती, आबू तथा मेवाड़ के शामिल होने का भी संकेत मिलता है।[4] उद्द्योतन द्वारा यहां के निवासियों

को 'मारुक' कहना भी इस बात का संकेत है कि मरुदेश राजस्थान के उस भाग का द्योतक था, जहां से व्यापारी वाणिज्य के लिए दक्षिण तक की यात्रा करते थे तथा अपने स्वभाव एवं वेशभूषा के कारण अलग से पहिचाने जाते थे। यह विचारणीय बात है कि उद्द्योतन ने स्वयं जालोर के निवासी होते हुए भी मरुदेश के निवासियों को कुरुप, मन्दबुद्धि और आलसी क्यों कहा है ? तत्कालीन अन्य सन्दर्भों के आधार पर ही कुछ समाधान खोजा जा सकता है।

कुव. में राजस्थान के लिए प्रयुक्त दूसरा नाम 'गुर्जरदेश' है। उद्द्योतन ने ग्रन्थ की प्रशस्ति में कहा है कि शिवचन्द्रगणि ने भ्रमण करते हुए श्रीभिल्लमाल नगर में निवास किया था।[5] वहां उनके शिष्य यक्षदत्तगणि ने मंदिरों के निर्माण द्वारा उस गुर्जरदेश को रमणीक बना दिया था।[6] इन्हीं यक्षदत्तगणि की परम्परा में उद्द्योतनसूरि ने जाबालिपुर (जालोर) में कुवलयमाला लिखी है। उस समय वहां का राजा श्री वत्सराज रणहस्तिन् था। इस वर्णन से स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी में भिन्नमाल व जालोर के आस-पास का प्रदेश 'गुर्जरदेश' के नाम से जाना जाता था। उद्योद्तन ने मरुदेश के तुरन्त बाद ही गुर्जरदेश के लोगों का वर्णन विजयपुरी की मंडी के वर्णन के प्रसंग में किया है। इससे भी ज्ञात होता है कि मरुदेश एवं गुर्जरदेश राजस्थान के भूभाग के मिले-जुले नाम थे। चीनी चात्री युवन च्वांग के वर्णन से भी राजस्थान के इस भूभाग को गुर्जरदेश कहे जाने की पुष्टि होती है।[7]

राजस्थान के नगरों में केवल भिन्नमाल, जालोर एवं पुष्कर का उल्लेख ही कुवलयमाला में हुआ है। श्रीभिन्नमाल (282.1) एवं पुष्कर का केवल नामोल्लेख हुआ है। पुष्कर की तीर्थ के रूप में प्रसिद्धि थी।[8] जालोर के सम्बन्ध में उद्द्योतन ने कहा है कि इस पृथ्वी में ऊंचे अष्टापद (हिमालय) की भांति अलंघनीय महोहर तथा श्रावकों के कुलों से युक्त जावालिपुर नगर है। वहां आचार्य वीरभद्र ने मनोहारी रत्नों की प्रभा से युक्त ध्वजा वाला ऊंचा एवं श्वेत ऋषभ-जिनेन्द्र का मंदिर बनवाया था।[9] उसी मंदिर में रह कर उद्द्योतन ने यह कुव. लिखी है। उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित विशेषताएँ आज भी जालोर में उपलब्ध हैं। जालोर सोवनगिरि पहाड़ी की तलहटी में बसा है। लगभग दो हजार जैन श्रावक वहाँ रहते हैं तथा बारह जैन मंदिरों से यह नगर अलंकृत है। यद्यपि जिस ऋषभजिनेन्द्र के मंदिर का उल्लेख उद्द्योतन ने किया उसकी पहिचान जालोर के जैन मंदिरों से नहीं हो सकी है।

ऐतिहासिक संदर्भ :

राजस्थान के ऐतिहासिक और राजनैतिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुवलयमाला से कई नये तथ्य प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्रसंगों में उद्द्योतनसूरि ने 27 राजाओं का उल्लेख कुव. में किया है। उनमें से अवन्तिवर्द्धन एवं श्री वत्सराज रणहस्तिन् के उल्लेख द्वारा राजस्थान एवं मालवा के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है। ग्वालियर स्टेट से प्राप्त रनोड़ अभिलेख में अवन्तिवर्मन् नाम के राजा का उल्लेख है,[10] जिसका समय इतिहासज्ञ ई. 762 से 787 के मध्य मानते हैं।[11] यह अवन्तिवर्मन् एवं कुव. में उल्लिखित अवन्ति राजा एक हो सकते हैं।

श्री वत्सराज रणहस्तिन् का उल्लेख उद्द्योतनसूरि के समकालीन आचार्य जिनसेन

ने भी किया है।[12] उनके इस सन्दर्भ के आधार पर विद्वान वत्सराज को अवन्ति (मालवा) का राजा मानते थे। किन्तु कुव. के इस सन्दर्भ से यह प्रमाणित होता है कि वत्सराज भिन्नमाल का राजा था। उसका शासन जालोर में भी था। यह वत्सराज उस समय इसलिए भी मालवा का शासक नहीं रहा होगा क्योंकि उद्द्योतन ने कुव. में अयोध्या के शासक दृढ़वर्मन द्वारा मालवा नरेश को पराजित होना बतलाया है।[13] तथा मालव के लोगों की प्रशंसा भी उद्द्योतन ने नहीं की है (153.6)। श्री वत्सराज की 'रणहस्तिन्' उपाधि का साहित्यिक उल्लेख भी उद्द्योतन ने सर्व प्रथम किया है। इस उपाधि से युक्त जो मुद्राएं मिली हैं, वे सब लगभग आठवीं शताब्दी की हैं।[14] उद्द्योतन ने श्री वत्सराज को शत्रु के क्रोध को चूर करने वाला तथा प्रणयीजनों को आनंद देने वाले चन्द्रमा के समान कहा है।[15] इस तरह कुव. से प्रतिहार शासन के प्रारम्भिक शासक के प्रभुत्व की जानकारी मिलती है।

राजनैतिक जीवन :

राजस्थान के राजनैतिक जीवन के सम्बन्ध में कुवलयमाला में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। क्योंकि उस समय तक राजस्थान में राजनैतिक स्थिरता स्पष्ट नहीं थी। प्रतिहार शासन विकसित हो रहा था। उस समय गुप्तकाल की शासन व्यवस्था ही आदर्श थी। अतः कुव. में राजाओं को 'महाराजाधिराज' 'परमेश्वर' आदि उपाधियों से युक्त कहा गया है।[16] इन उपाधियों का प्रयोग राजस्थान के राजा भी करते थे। मन्त्री-परिषद् की शासन में प्रमुखता थी, जिसे उद्द्योतन ने 'वासव-सभा' कहा है। प्रधानमंत्री को महामंत्री के नाम से जाना जाता था। उद्द्योतन ने ऐसे लगभग तीस राजकर्मचारियों व अधिकारियों का सन्दर्भ कुव. में दिया है।[17] इनमें से अधिकांश राजस्थान के राजघरानों में लम्बे समय तक उपस्थित रहे हैं।

राजस्थान के शासन में सामन्त प्रथा एवं जमींदारी की प्रमुखता रही है। आठवीं शताब्दी में भी सामन्त प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी।[18] कुवलयमाला में मानभट एवं उसके पिता जुण्णठक्कुर की कथा से यह स्पष्ट है कि राजा द्वारा सैनिकों को जमीन दान में दी जाती थी तथा वे राजा के अधीन होकर वहाँ का शासन करते थे। उन्हें राजा के दरबार में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। कुवलय. में इस सम्बन्ध में एक विशेष शब्द 'ओलग्गिउं' का प्रयोग हुआ है।[19] इस शब्द का अपना एक इतिहास है। किन्तु आठवीं शताब्दी में 'ओलग्ग' सेवा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था, जिसके बदले में राजा के द्वारा जमींदारी आदि प्राप्त होती थी। राजस्थानी लोकगीतों में यह शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है। मध्यप्रदेश में नाई, हलवाहा, चरवाहा तथा अन्य घरेलु कर्मकारों मो जो वर्ष भर की वृत्ति दी जाती है उसे 'लाग' कहा जाता है। कुव. में 'महासामन्त' उपाधि का भी उल्लेख है जो राजस्थान के शासकों द्वारा धारण की जाती रही है।[20] कुव. में इन्हें 'महानरेन्द्र' भी कहा गया है।

कुवलयमाला में राजस्थान ग्राम-प्रशासन के सम्बन्ध में भी कुछ तथ्य उपलब्ध होते है। यदि कोई व्यक्ति अपराधी होता था तो गांव के सभी प्रधान मिल कर उसके प्रायश्चित का विधान करते थे। गांव के स्वामी की 'द्रंग-स्वामी' तथा 'महामयहर' उपाधि प्रचलित थी।[21] उत्तर-पश्चिम भारत में 'द्रंग' एक प्रशासनिक संस्था के रूप में प्रचलित शब्द था।

सामाजिक जीवन

राजस्थान के सामाजिक जीवन की अनेक छवियां कुवलयमाला में अंकित हैं। यद्यपि समाज की संरचना में चारों वर्णों का महत्व यहां रहा है, किन्तु आठवीं शताब्दी में वैश्य और शूद्र जाति के लोगों का उत्कर्ष राजस्थान में अधिक हुआ है। विदेशी जातियों के मिश्रण का फल शूद्रों ने ऊंचे उठकर प्राप्त किया है। कुव. से यह सब प्रमाणित होता है। शूद्र जाति का व्यापारी धनदेव व्यापारियों की मण्डी में अपने गुणों के कारण सम्मानित होता है।[22] वैश्य जाति व्यापार प्रधान थी। महाश्रेष्ठी, नगरश्रेष्ठी आदि उपाधियां वैश्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। कुवलयमाला से पता चलता है कि मारवाड के वणिक् दक्षिण भारत तक की यात्रा व्यापार के लिए करते थे।[23] सैनिकवृत्ति अपनाने वाले व्यक्ति क्षत्रिय कहे जाते थे। उनकी उत्पत्ति सूर्यवंश और चन्द्रवंश से मानी जाती थी।[24] कुछ म्लेच्छ भी योद्धा होने के कारण क्षत्रियों के समान आदर प्राप्त करते थे, जिनसे असली ठाकुरों का स्वाभाविक वैर था (मानभट की कथा)। कुव. में क्षत्रिय कुमार मानभट को ठाकुर कहा गया है। राजस्थान में ठाकुरों की प्राचीन परम्परा है। कुव. में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध में अनेक सन्दर्भ हैं,[25] जो राजस्थान के ब्राह्मणों का परिचय देते हैं। उद्द्योतनसूरि ने कुछ अन्त्यज जातियों का भी उल्लेख किया है। वे नगर से बाहर रहती थीं तथा निम्न कोटि के कार्य करती थीं। राजस्थान में आज भी ऐसी अछूत जातियों का अस्तित्व है तथा इनके झोपड़े शहर से बाहर देखे जा सकते हैं। राजस्थान में 'चारण' जाति की अधिक प्रसिद्धि है। उद्द्योतन ने गाँव-गाँव में जाकर अपनी जीविका कमाने वाली जाति को चारण कहा है। नट एवं मोष्टिक जाति के साथ उनका उल्लेख किया है।[26]

राजस्थान की ओसवाल जाति प्रसिद्ध है। इसके कई गोत्र बाद में विकसित हुए हैं। कुव. में ऐसे किसी गोत्र का उल्लेख नहीं है। अतः आठवीं शताब्दी के बाद ही ओसवाल आदि जातियां प्रतिष्ठित हुई प्रतीत होती हैं।[27] श्रीमाल जाति अवश्य इस समय अस्तित्व में आ गयी थी, जिसके मूल स्थान श्रीभिन्नमाल का उल्लेख उद्द्योतन ने किया है। इसी तरह राजस्थान में चन्द्रगच्छ प्रचलित रहा है, जो चन्द्रकुल से विकसित हुआ है। उद्द्योतनसूरि ने स्वयं को चन्द्रकुल का आचार्य कहा है।[28]

सामाजिक जीवन में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था है। कुव. में विवाह का जो वर्णन है वैसा दृश्य राजस्थान के किसी भी विवाह-मण्डप में देखा जा सकता है। विवाह के लिए पिता की आज्ञा सर्वोपरि थी। कुवलयमाला के विवाह में चार ही फेरे पड़ते हैं,[29] जो राजस्थान में आज भी प्रचलित है। कुव. में उल्लिखित वस्त्रों और अलंकारों की पहिचान भी राजस्थान के पहिनावे से हो सकती है। कुव. में जिस सिले हुए वस्त्र कूर्पासक का उल्लेख हुआ है, उसी का परिवर्तित रूप वर्तमान में प्रयुक्त बांहवाला अंगरखा है। रत्न, स्वर्ण आदि के आभूषणों के अतिरिक्त राजस्थान में आज जो कांच से जड़े हुए कांगन बनते हैं, उनका उल्लेख भी उद्द्योतन ने किया है।[30]

कुव. में जिन धार्मिक व सामाजिक उत्सवों का वर्णन है वे भी राजस्थान के जन-जीवन में घुले-मिले हैं। इन्द्रमह, महानवमी, दीपावली, कौमुदीमहोत्सव, मदनोत्सव आदि उनमें प्रमुख हैं। इस समय युवराज्याभिषेक भी एक उत्सव के रूप में मनाया जाने लगा था। गांवों में भी नाटक-मण्डली का प्रचार था। कुव. में जिस नट-मण्डली का वर्णन है और

जिस तैयारी के साथ गांव के लोग उसे देखने पहुँचते हैं,[31] वैसा दृश्य आज भी लोक-कलाओं के प्रदर्शन के समय राजस्थान में देखा जा सकता है। कुव. में रासनृत्य एवं डांडियानृत्य के भी उल्लेख हैं, जो राजस्थान के प्रचलित नृत्य हैं।

सामाजिक जीवन कृषि और वाणिज्य के विकास पर निर्भर है। राजस्थान में पानी के अभाव के कारण फसल सूखने के खतरे उठाने पड़ते हो। उद्द्योतन ने भी इसका संकेत किया है। दो निर्धन युवकों ने खेती करने के लिए जो कुछ भी घर में धान्य था उसे खेत में डाल दिया। किन्तु मेघ के न वरसने से वह धान्य भी सूख गया।[32] सूखा अथवा अकाल राजस्थान के लिए अभिशाप रहा है। सम्भवतः उद्द्योतन के समय में भी राजस्थान इससे ग्रसित था। उन्होंने अकाल का इतना सूक्ष्म वर्णन किया है, जो किसी प्रत्यक्षदर्शी के द्वारा ही सम्भव है। उस अकाल में ब्राह्मणों तक की सब क्रियाएं छूट गयीं। एक ब्राह्मण बटुक अनाथ हो गया। अकाल के कारण भिक्षा न मिलने से उसने गल्ला बाजार में गिरे हुए धान के कणों को बीन कर तथा जूठे मिट्टी के सकोरों के खाद्य पदार्थ द्वारा किसी-किसी तरह उस अकाल को व्यतीत किया।[33] यद्यपि इस अकाल नगरी का नाम ग्रन्थ में माकन्दी दिया गया है, किन्तु वह दशा राजस्थान की ही प्रतीत होती है। संभवतः राजस्थान के अकाल का इससे प्राचीन और कोई उल्लेख नहीं है।

वाणिज्य की जिस समृद्धि की बात कुवलयमाला में कही गयी है, वह राजस्थान की अपनी थाती है। यहां के व्यापारियों का उस समय देश व विदेश से जो व्यापारिक सम्बन्ध था उसका सही चित्रण कथा के रूप में उद्द्योतन ने किया है।[34] व्यापारिक नाप-तौल के बहुत से प्रमाण भी राजस्थान के व्यापार में व्यहत होते रहे हैं। आज भी पुराने व्यापारियों में बहुमूल्य की वस्तुओं के मोल-भाव में सांकेतिक भाषा तथा प्रतीकों का प्रयोग होता है। गमछे के नीचे दोनों व्यापारी हाथ छिपा कर सौदा तय कर लेते हैं। उद्द्योतनसूरि ने मोल-भाव की इस प्रणाली को एक विशिष्ट शब्द दिया है - दिण्णाहत्थसण्णा। विदेशों की मण्डी में, जहाँ राजस्थान के भी व्यापारी जाते थे, मोल-भाव के समय व्यापारी 'दिण्णाहत्थसण्णा' का प्रयोग करते थे।[35] जिस प्रकार दिसावर जाते समय आज राजस्थान के व्यापारी तिथि, दिन एवं शकुन आदि का विचार करते हैं तथा अपने सब सम्बन्धियों से मिल-भेंट कर व्यापार के लिए जाते हैं, उसी तरह का वर्णन उद्द्योतन ने भी धनदेव की समुद्रयात्रा के समय किया है। (पृ. 67)

धार्मिक जीवन :

राजस्थान का धार्मिक जीवन कुवलयमाला में प्रतिबिम्बित हुआ है। अनेक धर्मों का यहाँ आठवीं शताब्दी में अस्तित्व था। वैष्णव, शिव, पौराणिक, जैन धर्म आदि की जिन सामान्य विशेषताओं का सन्दर्भ उद्द्योतन ने दिया है, उनकी प्रामाणिकता राजस्थान के इतिहास व साहित्य से भी सिद्ध होती है।[36] जिन देवी-देवताओं का उल्लेख कुव. में हैं उनमें से अधिकांश की प्रतिमाएं राजस्थान के पुरातत्व में उपलब्ध हैं।

कुवलयमाला में सूर्यपूजा का विस्तृत वर्णन है। उद्द्योतन जालोर (भिन्नमाल) के निवासी थे। उस समय भिन्नमाल सूर्यपूजा का प्रधान केन्द्र था। बाद में जगत स्वामिन् के

नाम से वहां सूर्य की मूर्ति प्रतिष्ठित हुई।[37] कुव. में आदित्य, अरविन्दनाथ एवं रवि नाम सूर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। संकट के समय सूर्य का स्मरण किया गया है (68.18) मंडोर से लगभग आठवीं शताब्दी की सूर्य की प्रतिमा प्राप्त हुई है।[38] अतः राजस्थान में सूर्य-उपासना उस समय बहुत प्रचलित थी, जिसका संकेत उद्द्योतन ने दिया है। कुव. में मूलस्थान-भट्टारक का भी उल्लेख है।[39] मुल्तान की यह सूर्यप्रतिमा कोढ़-निवारण के लिए प्रसिद्ध थी। संभव है, राजस्थान के लोग इसकी उपासना करने जाते रहे हों। कष्ट-निवारण के लिए सूर्य के पुत्र रेवन्तक का उल्लेख भी कुव. में है।[40] राजस्थान के चेदि अभिलेख में रेवन्तक के मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख है तथा ओसिया के सूर्य मंदिर में रेवन्तक की एक प्रतिमा भी उपलब्ध है।[41]

कुवलयमाला में विभिन्न धार्मिकों के प्रसंग में पूर्तधर्म का भी उल्लेख है। उद्द्योतन ने कहा है कि कुएं, तालाब खुदवाना, वापिकाओं का बंधवाना तथा प्याऊ खोलना ही पूर्तधार्मिकों का परम् धर्म है।[42] अन्य प्रसंग में भी धन का सही उपयोग करने के लिए कहा गया है कि दीन एवं ब्राह्मणों को दान दो, मन्दिर बनवाओ, आरोग्यशाला चलाओ, पथिकों को निःशुल्क भोजन बांटो आदि (कुव. 65.8-9)। इस प्रकार के कार्य राजस्थान के जन-जीवन के अनिवार्य अंग हैं। यहां के राजाओं की प्रशस्तियों और अभिलेखों में इस प्रकार के दान-पत्रों के कई संदर्भ हैं।[43]

कला चित्रण :

राजस्थान की कला के विभिन्न पक्ष कुवलयमाला द्वारा उद्घाटित हुए हैं। चित्रकला और मूर्तिकला का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में है। स्थापत्य कला के कई शब्द राजस्थान में उसी रूप में व्यवहृत होते हैं, जिस रूप में उनका उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है। राजस्थान के किलों का जिन रुपों में निर्माण हुआ है, कुव. के नगरों के वर्णन में वही पद्धति प्राप्त होती है। परिखा, प्राकार, रक्षा-चौकी, गोपुर, राज्यमार्ग, सिंह-द्वार, राजमहल की संरचना आदि राजस्थान के किसी किले में देखी जा सकती है।[44] राजस्थान के निजी भवनों की बालकनी अथवा ऊपरी तल को माला कहा जाता है। कुव. में भी भवन की दूसरी मंजिल को माला कहा गया है।[45] कमरों को कोठा कहा गया है।[46]

कुव. में चित्रकला के वर्णन में पटचित्रों कां विशेष महत्व हैं। व्यक्तिगत, धार्मिक एवं कथात्मक पटचित्रों का इसमें विस्तृत वर्णन है। राजस्थान की रामदला की पड़ की विषयवस्तु, रंग-संयोजन, प्रस्तुतीकरण आदि कुव. की पटचित्रकला से प्रभावित हैं। कुव. में जो कथात्मक पटचित्र वर्णित है उसका विकसित रूप राजस्थान की पावू जी पड़, देवनारायण की पड़ आदि में देखा जा सकता है।[47] राजस्थान की चित्रकला के सम्बन्ध में जानने के लिए कुव. का यह वर्णन सबसे प्राचीन है।

मूर्तिकला के अन्तर्गत शिव, विष्णु, गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती आदि की अनेक मूर्तियां राजस्थान में उपलब्ध हैं। उनकी अर्चना एवं स्वरूप आदि का वर्णन कुवलयमाला में हुआ है। कई द्रव्यों के मिश्रण से बनायी जाने वाली जिन प्रतिमाओं का उल्लेख कुव. में है,[48] वह सर्वधातु से निर्मित प्रतिमाओं के निर्माण का संकेत है। पिंडरवारा के जैन मन्दिर में 784

ई. की निर्मित सर्वधातु की प्रतिमा उपलब्ध भी है।[49] उद्द्योतन ने ऋषभदेव की प्रतिमा को मुक्ताशैल द्वारा निर्मित कहा है।[50] यह मुक्ताशैल संभवतः राजस्थान का सफेद संगमरमर है, जिसकी मूर्तियां बनती हैं।[51] कुवलयमाला में यक्ष के सिर पर जिन-प्रतिमा की स्थापना की बात भी कही गयी है।[52] भारतीय मूर्तिशिल्प में इस प्रकार की अनेक यक्ष-प्रतिमाएं उपलब्ध हैं। राजस्थान में चित्तौड़ के पास बांसी नामक स्थान से जैन कुबेर की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके मुकुट पर जिन-प्रतिमा स्थापित है।[53] इस तरह कुव. में वर्णित कला के अनेक संदर्भ राजस्थान की कला से सम्बन्ध रखते हैं।

कुवलयमाला में वर्णित राजस्थान के जन-जीवन के ये कुछ उदाहरण मात्र हैं। सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर और भी कई तथ्य प्राप्त हो सकते हैं। कुवलयमाला इस बात का उदाहरण है कि राजस्थान के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में साहित्यिक साक्ष्य किस प्रकार उपयोगी हो सकते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का अध्ययन अनुसंधान के क्षेत्र में कितनी नयी दिशाएं प्रस्तुत करता है, यह भी इससे स्पष्ट है।

सन्दर्भ

1. मरु-देसु जइसओ उद्दाम-संचरंत-करह-संकुलो। - 134.33.
2. बंके जडे य जड्डे बहु-भोई कढिण-पीण-सूणंगे। 'अप्पाँ-तुप्पाँ' भणिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो॥ - वही, 153.3
3. जह होइ मरुत्थलीसुं तण्हा-बस-सूसमाण-कंठस्स। पहियस्स_सम्मतं होइ सर-सरिसं॥-" वही, 178.1-2
4. राजस्थान थ्रु द एजेज, पृ. 11. अर्ली चोहान डायनस्टी, पृ. 149
5. सिरि-भिल्लमाल-णयरम्मि संठिओ कप्परुक्खो व्व।_कुव., 282.1
6. रम्मो गुज्जर-देसो जेहि कओ देवहरएहिं। - वही, 282.11
7. शर्मा दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 110
8. सोमेसर-पहास-पुक्खराइसु तित्थेसु पिंडयं पक्खालयंतो परिभमतु, जेण ते पावं सुज्झः' त्ति। -कुव, 48.25.
9. तुंगमलंघं जिण-भवण-मणहरं सावयाउलं विसमं। जावालिउरं अट्ठावयं व अह अत्थि पुहईए॥
   तुंगं धवलं मणहारि-रयण-पसरंत-धयवडाडोवं। उसभ-जिणिंदाययणं करावियं वीरभद्देण॥
   - वही, 282.21-22
10. एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 1, पृ. 351
11. बुद्धप्रकाश, एसपेक्ट ऑफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन पृ. 115
12. पूर्वां श्रीमतदवन्ती भूभृति नृपे वत्सादिराजे पराम्।
    शौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेःवति ॥52॥ —हरिवंशपुराण, प्रशस्ति
13. तइया मालव-णरिंद-विजयत्वंगओ। —कुव. 8.23

14. पी.एल.गुप्ता, जर्नल आफ द न्यूमेसमेटिक सोसायटी आफ इंडिया, भाग 16,282-3
15. पस-भड-भिउडी भंगो पणईयण-रोहिणी-कलाचंदो। सिरि-वच्छराय-णामो रण-हस्थी पत्थिवो जइया। -कुव. 283.1
16. जय महारायाहिराय परमेसर सिरिदढवम्मणंदण, -कुव. 154.32
17. द्रष्टव्य, लेखक का शोधग्रन्थ- 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' वैशाली, 1975 पृ. 167
18. बुद्धप्रकाश, 'द जेनिसस एण्ड करेक्टर आफ लेन्डेड अस्ट्रोकेसी इन एशियन्ट इण्डिया' जर्नल आफ द सोसल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री आफ द ओरियन्ट, 1971
19. सो तं पुत्तं घेत्तूण उज्जेणिस्स रण्णो ओलग्गिउं पयत्तो। दिण्णं च राइणा ओलग्गमाणस्स तं चेव कूपवंद्रं गामं- कुव. 50.25-26
20. शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 309 आदि।
21. तओ सयल-दंग-सामिणा भणियइ जेट्ठ-महामयहरेण, कुव. 63.24
22. सुद्द-जाईओ धणदेवो णाम सत्थवाहपुत्तो___। कुव. 65.2
23. वही, 153.3
24. एक्को आइच्चवंसो दुइओ ससि वंसो। तओ तत्थ_जाओ।- वही 134.18, 19
25. द्रष्टव्य, लेखक का शोध-प्रबन्ध, पृ. 102-4
26. णड-णट्ट-मुट्ठिय-चारण-गणा परिभमिउ समायत्ता।- वही 46.9
27. हिस्ट्री आफ ओसवाल तथा जैनिज्म इन राजस्थान, द्रष्टव्य।
28. चंदकुलावयवेण आयरिउज्जोयणेण रइया मे।- कुव. 283.4
29. इमिणा कमेण पढमं मंडलं_तहा चउत्थं मंडलं। -वही, 171.11-12
30. अण्णा गाम-जुवईओ इव रीरिय-संख-वलय-काय-मणिय-सोहाओ, वही. 8.2
31. तम्मि य गामे एक्कं णड-पेडयं गामाणुगामं विहरमाणं संपत्तं।- कुव. 46.9
32. जं किंचि घरे धण्णं सव्वं खेत्तम्मि तं तु पक्खित्ते।
    मेहा ण मुयंति जलं सुक्कं तत्थेय तं धण्णं॥- कुव. 191.7
33. किहिंचि विवणि-मग्ग-णिवडिय-धण्ण-कणेहिं_कहिंचि उच्चिट्ठ मल्लय-संलिहणेणं___ ।___वही, पृ. 117
34. द्रष्टव्य-लेखक का ग्रन्थ, पृ. 187-200
35. परियलियं मंडं, दिण्णा-हत्थ-सण्णा, विक्कीणयं तं।- कुव. 67.13
36. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रु द एजेज, पृ. 368.90।
37. वही, पृ. 383
38. अर्ली चोहान डायनेस्टी, पृ. 235
39. मूलत्थणु भडारउ कोढइं जे देइ उद्दालइज्जे लोयहुं।- कुव. 55-16

40. को वि रेमंतस्स, वही, 68.19
41. राजस्थान थ्रु द एजेज, पृ. 393 (फुटनोट)
42. खाणे कूव-तलाए बंधइ वावीओ देइ य पवाओ। -कुव. 205-3
43. भोजन प्रथम की दोलतपुर एवं बराह प्लेट, महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख, अपराजित गुहिल के उदयपुर अभिलेख आदि। -उद्धृत, राज. थ्रु द एजेज, पृ. 398,399।
44. द्रष्टव्य, लेखक का ग्रन्थ, पृ.324-30
45. कावि रच्छामुहम्मि संठिया, अण्णा मालएसं -कुव. 25.8
46. कोट्टय कोणाओ, वही, 47.15
47. द्रष्टव्य, लेखक का ग्रन्थ, पृ. 300
48. अण्णोण-वण्ण-घडिए णिय-वण्ण-पमाण-माण-णिम्माए।- कुव,95.8
49. राजस्थान थ्रु द एजेज पृ. 67
50. मउडम्मि पडिमा मुत्तासेल-विणिम्मविया। -कुव., 115.4, 119.3
51. द्रष्टव्य, कुवलयमाला, द्वितीय भाग में, डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का लेख पृ. 123
52. कुव., 120.15-16
53. रिसर्चर1, पृ. 18

❑❑❑

एकादश

राजस्थान का प्राकृत - अपभ्रंश साहित्य

राजस्थान की साहित्यिक समृद्धि में प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा की रचनाओं का महत्वपूर्ण योग है।[1] प्राचीन ग्रन्थों की प्रशस्तियां, लेखा पट्टावलियां आदि के उल्लेख एवं राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध इन भाषाओं के ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि जैनाचार्यों ने अपना अधिकांश समय राजस्थान के सांस्कृतिक विकास में व्यतीत किया है।[2] प्राकृत भाषा में लिखे गये ग्रन्थों का सर्वेक्षण व मूल्यांकन राजस्थान के जैनाचार्यों की इस थाती को और स्पष्ट करता है।[3] राजस्थान की साहित्यिक सम्पदा का एक प्रामाणिक इतिहास
२ आधुनिक शैली में लिखा जाना नितान्त अपेक्षित है।

प्राकृत साहित्य के साहित्यकारों एवं उनकी रचनाओं को राजस्थान से सम्बन्धित बतलाने में जिस आधारभूत सामग्री का उपयोग किया जा सकता है वह है- (1) गन्थों की प्रशस्तियां व वृत्तियों में राजस्थान के नगरों व मन्दिरों का उल्लेख, (2) रचनाकारों के गच्छ व गुरु-परम्परा का राजस्थान से संबंध, (3) प्रतिमालेखों, अभिलेखों व पट्टावलियों में ग्रन्थ व ग्रन्थकार से संबंधित उल्लेख तथा (4) राजस्थान की प्रसिद्ध जातियों व राजवंशों से ग्रन्थकारों का संबंध आदि। इन तथ्यों के अतिरिक्त गुजरात, मालवा एवं दिल्ली के प्राचीन इतिहास आदि में भी राजस्थान के रचनाकारों व आचार्यों का परिचय यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जैन आचार्यों के भ्रमणशील होने के कारण बहुत से गुजरात आदि के ग्रन्थकारों ने भी राजस्थान में रचनायें की हैं तथा उन्हें सुरक्षित रखा है।[4] इस तरह के सभी प्रमाणों के आधार पर राजस्थान के प्राकृत-साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है।

राजस्थान की साहित्यिक परम्परा :

यह कह पाना कठिन है कि राजस्थान में सर्व प्रथम किस भाषा में और कौन-सा ग्रन्थ लिखा गया ? इसके उत्तर के लिये अनुश्रुति और उपलब्ध प्रमाणों को जांचना होगा। राजस्थान में ऐसी अनुश्रुति है कि प्राचीन समय में इस प्रदेश में सरस्वती नदी बहती थी, जिसके किनारे बैठकर कभी मुनियों ने वेद की ऋचायें एवं अन्य ग्रन्थ लिखे थे।[5] इस मिथ को प्रमाणित करना कठिन है। पुनरपि सरस्वती नदी का उल्लेख राजस्थान में प्रारम्भ से ही साहित्य रचने

जाने का प्रतीक है। यही बात राजस्थान में उपलब्ध प्रारम्भिक साहित्य से फलित होती है।

संस्कृत व प्राकृत की रचनाओं में महाकवि माघ का "शिशुपालवध", आचार्य हरिभद्रसूरि का "धूर्ताख्यान" व उद्योतनसूरि की "कुवलयमालाकहा" ऐसी प्रारम्भिक रचनाएं हैं जिनमें उनके कर्ता के साथ-साथ उनके रचना-स्थलों और समय का भी उल्लेख है। ये सभी रचनाएं आठवीं शताब्दी की हैं और काव्य तथा शैली की दृष्टि से पर्याप्त प्रौढ़ हैं। अतः इनके सृजन के पीछे राजस्थान में साहित्यिक विकास की एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि होनी चाहिये। यह अनुमान किया जा सकता है कि राजस्थान में 4-5वीं शताब्दी में ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ हो गया होगा। क्योंकि इस युग में देश में विपुल साहित्य रचा जा रहा था। राजस्थान के तत्कालीन नगरों में रहने वाले साहित्यकार इसमें पीछे नहीं रहे होंगे।

जैन-साहित्य की दृष्टि से यह युग आगमों पर भाष्य आदि लिखे जाने का था। जैनाचार्य अपनी टीकाओं में प्राकृत का प्रयोग अधिक कर रहे थे।[6] प्राकृत में लौकिक काव्य आदि भी लिखे जा रहे थे। अतः सम्भव है कि किसी जैनाचार्य में राजस्थान में विचरण करते हुये प्राकृत में ग्रन्थ रचना की हो। जैनागम के प्रसिद्ध टीकाकारों का प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होने पर भी संभव है कि गुप्तयुग में राजस्थान में रचित किसी प्राकृत ग्रन्थ का पता चल सके। गुप्त युग में रचित ऐसी कुछ प्राकृत रचनाओं ने ही आठवीं शताब्दी की प्राकृत रचनाओं के निर्माण में भूमिका प्रदान की होगी।

राजस्थान में गुप्तयुग के जैनाचार्यों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एवं एलाचार्य का चित्तौड़गढ़ से संबंध बतलाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर 5वीं शताब्दी के बहुप्रज्ञ विद्वान् थे। प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश में सिद्धसेन की चित्तौड़गढ़ यात्रा के उल्लेख प्राप्त हैं। दिवाकर की पदवी उन्हें चित्तौड़गढ़ में ही प्राप्त हुई थी।[7] अतः बहुत संभव है कि सिद्धसेन की साहित्य-रचना का क्षेत्र मेवाड़ का प्रदेश रहा हो। प्राकृत में लिखा हुआ उनका 'सन्मतितर्क' नामक ग्रन्थ राजस्थान के साहित्यकार की प्रथम प्राकृत रचना मानी जा सकती है।

दिगम्बर आचार्यों की परम्परा में एलाचार्य को 7वीं शताब्दी का विद्वान् माना जाता है। कुछ विद्वान एलाचार्य को कुन्दकुन्द से अभिन्न मानते हैं। किन्तु एक एलाचार्य कुन्दकुन्द के बाद में भी हुए हैं।[8] इन्द्रनंदिकृत "श्रुतावतार" से ज्ञात होता है कि एलाचार्य चित्रकूट (चित्तौड़गढ़) में निवास करते थे। वे जैन शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान थे।[9] उनके पास प्रसिद्ध विद्वान वीरसेन ने शास्त्रों का अध्ययन किया था। अतः एलाचार्य की उपस्थिति में चित्तौड़ गुप्त युग में साहित्य-साधना और विद्या का केन्द्र बन गया था। राजस्थान के प्राकृत के प्रारम्भिक साहित्यकारों व विद्वानों में सिद्धसेन के बाद एलाचार्य को स्मरण किया जा सकता है, जिनके शिष्य वीरसेन ने आठवीं शताब्दी में प्राकृत की महत्वपूर्ण रचना 'धवला' टीका के रूप में की है।

प्राकृत साहित्य का क्रमिक विकास :

राजस्थान में प्राकृत-साहित्य आठवीं शताब्दी में पर्याप्त समृद्ध हो चुका था। इस शताब्दी के विद्वान आचार्य हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि, पद्मनन्दि तथा आचार्य वीरसेन हैं।

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ में हुआ था।[10] ये जन्म से ब्राह्मण थे तथा राजा जितारि के पुरोहित। जैन दीक्षा ग्रहण करने के बाद हरिभद्रसूरि ने जैन वाड्.मय की अपूर्व सेवा की है। इन्होंने प्राचीन आगमों पर टीकाएं एवं स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी लिखे हैं।[11] दर्शन व साहित्य विषय पर आपकी विभिन्न रचनाओं में प्राकृत के निम्न ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं-समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, उपदेशपद, धम्मसंग्रहणी, योगशतक, संबोहपगरण आदि। हरिभद्रसूरि ने न केवल अपने मौलिक प्राकृत ग्रन्थों द्वारा अपितु टीकाग्रन्थों में प्राकृत के प्रयोग द्वारा भी राजस्थान में प्राकृत के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया है। हरिभद्रसूरि का समय ई. सन् 700-770 माना जाता है।

उद्योतनसूरि, हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन हरिभद्रसूरि से किया था। उद्योतनसूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुवलयमालाकहा' द्वारा राजस्थान में प्राकृत कथा साहित्य को एक नया मोड़ दिया। उनकी यह कृति भारतीय साहित्य में चम्पू विधा का प्रथम निदर्शन है।[12] ई. सन् 779 में जालौर में कुवलयमाला की रचना हुई थी। उद्द्योतनसरि ने इस ग्रन्थ द्वारा प्राकृत कथा साहित्य का प्रतिनिधित्व किया है।[13]

इसी शताब्दी में आचार्य वीरसेन हुए हैं। इनके जन्म-स्थान के संबंध में मतभेद है। किन्तु इनका अध्ययन केन्द्र चित्तौड़ था।[14] प्राकृत के ये प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ षट्खण्डागम पर इन्होंने 'धवला' नाम की टीका लिखी है, जो 72 हजार श्लोक प्रमाण, प्राकृत व संस्कृत में हैं। वीरसेन की विद्वता व पाण्डित्य की प्रंशसा उत्तरवर्ती अनेक कवियों ने की है।

इस शताब्दी के प्राकृत रचनाकारों में पद्मनन्दि का महत्वपूर्ण स्थान है। ये वीरनन्दि की शाखा में बालनन्दि के शिष्य थे। वि.सं. 805 में मेवाड़ राज्य के बारांनगर में आपका जन्म हुआ था। पद्मनन्दि की 'पंचविंशति', 'जम्बद्वीपपण्णति' तथा 'धम्मरसायण' प्राकृत की महत्वपूर्ण रचनायें हैं। इन रचनाओं का धर्म-दर्शन के क्षेत्र में काफी प्रभाव रहा है। इस प्रकार आठवीं शताब्दी के इन चारों प्राकृत साहित्यकारों ने राजस्थान में प्राकृत-साहित्य को पर्याप्त समृद्ध किया है।[15]

पूर्व मध्य युग :

राजस्थान में 9-10वीं शताब्दी में प्राकृत के अधिक साहित्यकार नहीं हुये। यह संस्कृत भाषा में पाण्डित्य-प्रदर्शन का युग था। सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपंचकथा' इसका प्रमुख उदाहरण है। यद्यपि इस युग के टीकाकारों ने प्राकृत का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। 9वीं शताब्दी के प्राकृत रचनाकारों में जयसिंहसूरि प्रमुख हैं। इन्होंने 'धर्मोपदेशमाला' पर 5778 श्लोक प्रमाण एक विवरण लिखा है, जो वि.सं. 915 में नागौर में पूर्ण हुआ था। इसमें 156 कथायें प्राकृत में दी गयी है।[16]

ग्यारहवीं शताब्दी में राजस्थान में प्राकृत-साहित्य की पर्याप्त समृद्धि हुई है। जिनेश्वरसूरि इस समय के प्रभावशाली आचार्य थे। इनका कार्य-क्षेत्र गुजरात, मालवा, मेवाड और मारवाड़ रहा है। इन्होनें मारवाड़ के डिण्डवानक गांव में प्राकृत में 'कथाकोष-प्रकरण'

की रचना की थी। वि.सं. 1086 में जालौर में 'चैत्यवन्दन विवरण' इन्होंने लिखा था। इनके अतिरिक्त भी 2-3 रचनाएं और इनकी प्राकृत में हैं[17]

इसी शताब्दी में धनेश्वरसूरि ने चन्द्रावती (आबू) में 'सुरसुन्दरीचरियं' प्राकृत में लिखा। दुर्गदेव ने कुंभनगर (भरतपुर) में 'रिट्ठसमुच्चय' ग्रन्थ की रचना प्राकृत में की।[18] बुद्धिसागर ने जालौर में 'पंचग्रन्थी' ग्रन्थ प्राकृत में रचा। महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकहा भी इसी शताब्दी की रचना है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवि धनपाल का भी राजस्थान (सांचोर) से संबंध रहा है, जिन्होंने प्राकृत में 'पाइयलच्छीनाममाला' ग्रन्थ की रचना की है।[19]

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्राकृत साहित्य को समृद्ध करने वालों में नेमिचन्द्रसूरि का प्रमुख स्थान है। आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। इन्होंने कई प्राकृत ग्रन्थ लिखे हैं। वि.सं. 1129 में इन्होंने उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका लिखी, जिसमें कई प्राकृत कथायें हैं। वि.सं. 1140 में इन्होंने प्राकृत में 'महावीरचरियं' लिखा। तथा लगभग वि.सं. 1122-1140 के बीच में इन्होंने 'रयणचूडरायचरियं' की रचना की। यह ग्रन्थ डिंडिलव सन्निवेश में प्रारम्भ कर उन्होंने चड्डावलिपुरी में इसे पूरा किया था।[20] प्रतीत होता है कि नेमिचन्द्रसूरि का कार्यक्षेत्र गुजरात एवं राजस्थान दोनों था।[21]

आचार्य हेमचन्द्र 11-12वीं शताब्दी के बहुश्रुत विद्वान थे। प्राकृत-साहित्य के क्षेत्र में भी उनका अपूर्व योगदान है। किन्तु उनका कार्यक्षेत्र गुजरात ही रहा है। राजस्थान में भ्रमण कर उन्होंने प्राकृत में किसी ग्रन्थ की रचना की हो ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं है।[22] अतः हेमचन्द्राचार्य की प्राकृत रचनाओं को यहां सम्मिलित नहीं किया है।

मध्य युग :

राजस्थान में बारहवीं शताब्दी में भी अनेक प्राकृत ग्रन्थ लिखे गये हैं। खरतरगच्छ के आचार्यों ने जैन साहित्य की अपूर्व सेवा की है। अभयदेवसूरि नवांगीवृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी 30 रचनाओं में से 19 रचनायें प्राकृत की हैं। आपका राजस्थान व गुजरात में विचरण होता रहता था। जिनवल्लभसूरि की 17 रचनाएं प्राकृत में उपलब्ध हैं। वि.सं. 1167 में इन्हें चित्तौड़ में आचार्य पद मिला था। नागौर, मरुकोट, विक्रमपुर आदि में आपने साहित्य-सृजन किया है।[23] जिनदत्तसूरि का कार्यक्षेत्र राजस्थान भी था। इनकी 10-12 रचनायें प्राकृत में उपलब्ध हैं।[24] जिनचन्द्रसूरि ने जालौर में 'संवेगरंगशाला' प्राकृत-ग्रन्थ लिखा था। लक्ष्मणगणि ने ई. 1142 में माण्डलगढ़ में 'सुपासनाहचरियं' की रचना की थी।[25] वद्‌र्धमानसूरि का 'आदिनाथचरित' इस शताब्दी की प्रमुख रचना है। मेड़ता में मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने भवभावना (उपदेशमाला) की रचना की थी। यह इनकी प्रसिद्ध प्राकृत रचना है।[26] गुणचन्द्रगणि इस शताब्दी के प्रमुख रचनाकार हैं। 'कहारयणकोस' और 'पासनाहचरियं' इनकी प्रसिद्ध प्राकृत रचनायें हैं।

तेरहवीं शताब्दी के बाद राजस्थान और गुजरात में राजस्थानी व गुजराती भाषा का विकास प्रारम्भ हो गया था। अतः प्राकृत-अपभ्रंश की अपेक्षा प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य लिखा जाने लगा था। फिर भी प्राकृत की रचनायें राजस्थान में लिखी जाती रहीं। भिन्नमाल कुल में उत्पन्न आसड़ कवि ने वि.सं. 1248 में 'विवेगमंजरी' नामक प्राकृत ग्रन्थ लिखा।

देवेन्द्रसूरि ने आबू क्षेत्र में विचरण करते हुए 'सुदंसणाचरियं' एवं 'कण्हचरियं' नामक प्राकृत ग्रन्थों की रचना की।[27] मरुकोट के निवासी नेमिचन्द्र भण्डारी ने इस शताब्दी में 'षष्टिशतक' नामक प्राकृत ग्रन्थ लिखा।[28] ये भण्डारी गृहस्थ लेखक थे। खरतरगच्छ के जैनाचार्यों से प्रभावित थे।

चौदहवीं शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थकारों में ठक्कर फेरु का महत्वपूर्ण स्थान है। ठक्कर फेरु कलश श्रेष्ठी के पौत्र और चन्द्र श्रावक के पुत्र थे। वे धंधकुल में हुए थे और कन्नाणपुर में रहते थे। दिल्ली में बादशाह अलाउद्दीन के यहां ये खजांची रहे हैं।[29] इनके वंश आदि के आधार पर इन्हें राजस्थान का स्वीकार किया जा सकता है। ठक्कर फेरु ने अनेक लाक्षणिक ग्रन्थों की रचना की है। 'इनके वास्तुसार', 'गणितसारकौमुदी', 'ज्योतिस्सार' आदि ग्रन्थ प्राकृत में हैं।

15-16वीं शताब्दी में भी राजस्थान में प्राकृत की रचनायें लिखी जाती रही हैं। जिनभद्रसूरि, (कुंभलसेर), नयरंग (वीरमपुर), मुनिसुन्दर (सिरोही), जिनहर्षगणि (चित्तौड़), राजमल्ल (नागौर), जयसोम (जोधपुर) आदि अनेक जैनाचार्यों ने इस शताब्दी में महत्वपूर्ण रचनायें लिखी हैं। जिनसत्तरि, विधिकन्दली, अंगलसत्तरी, रयणसेहर कहा, छंदाविद्या आदि प्राकृत रचनायें उनमें प्रमुख हैं। दिवाकरदास की 'गाथाकोष सप्तशती', हीरकलश का 'ज्योतिषसार', शुभचन्द्रसूरि का 'चिन्तामणिव्याकरण', साधुरंग की 'कर्मविचारसार प्रकरण' आदि 17वीं शताब्दी की प्राकृत रचनायें [30] मेघविजय उपाध्याय एवं उपाध्याय यशोविजय आदि ने 18 वीं शताब्दी में भी प्राकृत के ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु 15वीं शताब्दी के बाद राजस्थान में प्राकृत-साहित्य की वह समृद्धि नहीं रही जो मध्ययुग के पूर्व में थी।

प्राकृत रचनाओं के विषय :

राजस्थान की इन प्राकृत रचनाओं में विषय की विविधता है। भारतीय साहित्य की शायद ही ऐसी कोई विधा हो जो राजस्थान के इन प्राकृत साहित्यकारों की लेखनी से अछूती रही हो। काव्य, कथा, चरित, चम्पू, कोश, व्याकरण, छंद, अलंकार आदि अनेक विषयों की प्राकृत रचनाएं यहां उपलब्ध है। धर्म व दर्शन को प्रतिपादित करने वाली भी सैंकड़ों रचनाएं प्राकृत में लिखी गई हैं। व्यंग्य-हास्य एवं नैतिक आदर्शों को प्रतिपादित करने वाले प्राकृत ग्रन्थों की कमी नहीं है। राजस्थान में विकसित प्राकृत की शताधिक रचनाओं में से कुछ प्रतिनिधि ग्रन्थों का संक्षिप्त मूल्यांकन यहां प्रस्तुत है।

1. कथा-ग्रन्थ :

प्राकृत में कथा-साहित्य सबसे अधिक समृद्ध है। पहली शताब्दी से प्राकृत कथाओं की रचना प्रारम्भ हो गयी थी। राजस्थान में आचार्य हरिभद्र का प्राकृत कथा साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। 'समराइच्चकहा' एवं 'धूर्ताख्यान' के अतिरिक्त उन्होंने अपने टीका ग्रन्थों में भी अनेक प्राकृत कथाओं का प्रणयन किया है।

समराइच्चकहा — यह ग्रन्थ प्राकृत कथाओं की अनेक विशेषताओं से युक्त है। इसमें उज्जैन के राजकुमार समरादित्य के नौ भवों की कथा वर्णित है। पूर्व जन्म में समरादित्य

गुणसेन था और उसका मित्र था-अग्निशर्मा। किन्हीं कारणों से अग्निशर्मा ने गुण शर्मा को अपना अपमान करने वाला मान लिया। अतः वह उससे निरन्तर बदला लेने की योजना बनाता रहा। यह प्रतिशोध की भावना इन दोनों व्यक्तियों के नौ जन्मों तक चलती रही। हरिभद्र ने कथा में इतना कौतूहल बनाये रखा है कि पाठक कथा पढ़ते समय आत्मविभोर हो उठता है। प्रमुख कथा की अनेक अवान्तर कथाएं विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालती हैं।[31]

वस्तुतः यह कथा सदाचारी एवं दुराचारी व्यक्तियों के जीवन-संघर्ष की कथा है। देश, काल और वातावरण के अनुसार जन-जीवन से अनेक पात्र इस कथा में उभरकर सामने आते हैं। उनके चरित्र विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कथाकार ने इनमें अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया है। काव्यात्मक दृष्टि से इस कथा में अनेक मनोरम चित्र हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' ने जो स्थान संस्कृत में पाया है 'समराइच्चकहा' का साहित्यिक दृष्टि से वही स्थान प्राकृत-साहित्य में है।

'समराइच्चकहा' प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का जीता-जागता उदाहरण है। समाज, धर्म, शिक्षा, कला आदि अनेक विषयों की प्रभूत सामग्री इसमें उपलब्ध है। विदेशों से समुद्रयात्रा के कई प्रसंग इसमें वर्णित हैं। प्राकृत में गद्य एवं पद्य में लिखी हुई यह कथा मानव-जीवन के उस चरम लक्ष्य का भी निरूपण करती है, जो व्यक्ति को इस संसार के पुनरागमन से मुक्ति दिलाता है। इस संबंध में मधुबिन्दु का दृष्टांत बड़े सुन्दर ढंग से इस कथा में प्रस्तुत किया गया है।

लघुकथायें :

हरिभद्र ने अपनी दशवैकालिक टीका में तीस एवं उपदेशपद में लगभग 70 प्राकृत कथायें दी हैं। इनमें से कुछ कथायें घटना-प्रधान तथा कुछ चरित्र-प्रधान हैं। कुछ कथाओं में बुद्धि का चमत्कार है तो कुछ कथायें पाठकों का स्वस्थ मनोरंजन करती हैं। नीति एवं उपदेश-प्रधान कथायें भी हरिभद्र ने लिखी हैं।[32] बुद्धि चमत्कार की एक लघु कथा द्रष्टव्य है—

कोई एक गाड़ीवान अपनी गाड़ी में अनाज भरकर एवं गाड़ी में तीतर का पिंजड़ा बांधकर शहर में अनाज़ बेचने आया। शहर के ठग ने उससे तीतर के दाम पूछे। गाड़ीवान ने सहजभाव से कहा— 'दो कर्षापण'। ठग ने इस सौदे का गवाह बनाकर वह तीतर का पिंजड़ा अनाज से भरी गाड़ी समेत दो कर्षापण में खरीद लिया। गाड़ीवान बैलों को लेकर गांव लौटने लगा तभी शहर के एक सज्जन व्यक्ति ने उसे एक उपाय बताया। तदनुसार वह गाड़ीवान अपने बैलों को लेकर फिर उस ठग के पास गया और बोला— 'आप इन बैलों को खरीद लो। इनके बदले मुझे दो पाली सत्तु दे दो। किन्तु वह सत्तु आपकी भार्या के द्वारा ही लूंगा।'

ठग ने इस सौदे का भी गवाह बनाकर गाड़ीवान क बात इसलिये मान ली कि दो पाली सत्तू में बैल मिल जायेंगे। किन्तु जब उसकी भार्या गाड़ीवान को सत्तू देने आयी तो गाड़ीवान उसका सत्तू वाला हाथ पकड़ कर अपने घर ले जाने लगा। ठग के द्वारा विरोध करने पर गाड़ीवान ने कहा कि तुम पिंजड़े की कीमत देकर जब मेरी पूरी गाड़ी ले सकते

हो तो मैं भी जो सत्तू को लिये हुए है ऐसी तुम्हारी पत्नी को ले जाता हूँ।

इस तरह के अनेक कथानक हरिभद्र के प्राकृत साहित्य में उपलब्ध हैं। उन्होंने न केवल लोकभाषा को आगे बढ़ाया है, अपितु लोक-जीवन को भी अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। हरिभद्र की प्राकृत कथाओं की ये प्रवृत्तियां उत्तरवर्ती प्राकृत कथा-ग्रन्थों में भी परिलक्षित होती हैं।

ज्ञानपंचमीकहा — महेश्वरसूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे। इनका राजस्थान से क्या संबंध था वह इनकी कृतियों से स्पष्ट नहीं होता। इस नाम के आठ आचार्य हुए हैं।[33] इनकी गुरु-परम्परा राजस्थान में विकसित हुई है। इनका यह 'ज्ञानपंचमीकहा' ग्रन्थ भी राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध रहा है। संभवतः वि.सं. 1109 के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।[34]

ज्ञानपंचमीकहा में श्रुतपंचमीव्रत का महात्म्य प्रतिपादित किया गया है। यह व्रत सुख-समृद्धि को देने वाला है यह बात कथा में कही गयी है। कथा के नायक भविष्यदत्त के विदेश चले जाने पर उसकी मां कमलश्री श्रुतपंचमी व्रत करती है। फलस्वरूप भविष्यदत्त सकुशल अपार सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। इस मुख्य कथा के साथ इस ग्रन्थ में अन्य नौ अवान्तर कथायें और हैं। इनमें सत् और असत् प्रवृतियों वाले व्यक्तियों के चारित्रिक संघर्ष को सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है। कथाओं में पौराणिक पुट स्पष्ट नजर आता है। लोकोक्तियों का अच्छा प्रयोग हुआ है। यथा-

"मरइ गुडेण चिय तस्स विसं दिज्जए किं व।"

निर्वाणलीलावतीकथा – इस कथा ग्रन्थ के रचयिता जिनेश्वरसूरि राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। गुजरात में भी आपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस ग्रन्थ की रचना वि.सं. 1090 के लगभग आशापल्ली नामक स्थान में हुई थी। यह पूरी कथा प्राकृत पद्यों में लिखी गयी थी जो इस समय उपलब्ध नहीं हैं। इस प्राकृत ग्रन्थ का संस्कृत भाषान्तर उपलब्ध है।[35] इससे पता चलता है कि मूल प्राकृत ग्रन्थ में क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा आदि विकारों के जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त होने वाले फलों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में काव्य तथा कथा तत्त्व की अपेक्षा उपदेश तत्त्व की प्रधानता है।

इस समय तक प्राकृत कथाओं का इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि स्वतन्त्र कथा ग्रन्थों के साथ-साथ प्राकृत की कथाओं के कोष-ग्रन्थ भी राजस्थान में लिखे जाने लगे थे। निर्वाण-लीलावतीकथा के लेखक का ही 'कथाकोष-प्रकरण' नामक ग्रन्थ प्राकृत में उपलब्ध है।

कथाकोष-प्रकरण – यह ग्रन्थ 'कहारयणकोस' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके मूल में 30 गाथाएं हैं, जिनकी व्याख्या करने में जिनेश्वरसूरि ने 36 मुख्य एवं 4-5 अवान्तर कथाएं प्राकृत में निबद्ध की हैं। यह ग्रन्थ वि.सं. 1108 में मारवाड़ के डिण्डिवानक नामक गांव के श्रावकों के अनुरोध पर लिखा गया है।[36] लेखक ने सरस कथाओं को सुबोध प्राकृत गद्य में प्रस्तुत किया है। यत्र-तत्र संस्कृत अपभ्रंश के पद्य भी उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में संग्रहीत कथाओं में तत्कालीन सामाजिक स्थिति, जन-स्वभाव, राजतन्त्र एवं धार्मिक संगठनों का

सुन्दर चित्रण हुआ है। नीतिकथाओं का ये कथाएं प्रतिनिधित्व करती हैं। संगीतकला आदि के महत्वपूर्ण सन्दर्भ इस ग्रन्थ में हैं।

कहारयणकोस – इस कथा-कोष के रचयिता गणचन्द्रगणि हैं, जो जिनेश्वरसूरि की शिष्य-परम्परा में सुमतिवाचक के शिष्य थे। खरतरगच्छ के इन आचार्यों का कार्य-क्षेत्र राजस्थान रहा है। अतः गुणचन्द्रगणि (देवभद्रसूरि) का भी राजस्थान से सम्बन्ध माना जा सकता है। यद्यपि इनकी रचनाएं गुजरात में अधिक लिखी गयी हैं।

कहारयणकोस की रचना वि.सं. 1158 में भरुकच्छ नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में की गयी थी।[37] इस ग्रन्थ में कुल 50 कथाएं हैं। सभी कथाएं रोचक एवं जीवन के आदर्श को उपस्थित करने वाली हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के चरित्र हैं, जो लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा के द्योतक हैं। यह ग्रन्थ तत्कालीन संस्कृति का भी परिचायक है। प्राकृत गद्य-पद्य में इसे लिखा गया है। अपभ्रंश एवं संस्कृत का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है।

आख्यानमणिकोश – इसके रचयिता नेमिचन्द्रसूरि हैं। इनके अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ये राजस्थान व गुजरात में विचरण करते थे। आबू के निकट चन्द्रावती में भी इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। इस आख्यानमणिकोश में धर्म के विभिन्न अंगों को हृदयंगम कराने वाली उपदेशप्रद 146 लघु कथाएं संकलित हैं। आम्रदेवसूरि ने ई.सं. 1134 में इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है। मूल ग्रन्थ एवं टीका दोनों प्राकृत में हैं।

इस ग्रन्थ की कथाएं मानव-स्वभाव के विभिन्न रूपों को उपस्थित करती हैं। उपकोशा और तपस्वी का आख्यान व्यक्ति के मानसिक द्वन्द्व का अच्छा चित्र उपस्थित करता है। कई आख्यान परीकथा के तत्वों से समाहित हैं।[38] सुभाषितों का ग्रन्थ में अच्छा प्रयोग हुआ है।यथा—

उप्पयउ गयणमग्गे रुंजउ कसिणत्तणं पयासेउ।

तह वि हु गोब्बर ईडो न पायए भमरचनियाइं॥

रयणसेहरीकहा – यह कथा ग्रन्थ 15वीं शताब्दी में जिनहर्षसूरि द्वारा चित्तौड़ में लिखा गया था।[39] जिनहर्ष संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी यह कथा प्राकृत कथा साहित्य की सुन्दर प्रेम कथा है। जायसीकृत पद्मावत का इसे पूर्व रूप कह सकते हैं। कथा का नायक रत्नशेखर रत्नपुर का रहने वाला है। उसके मन्त्री का नाम मतिसागर है। एक बार राजा किन्नर-दम्पत्ति के वार्तालाप में सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नावली की प्रशंसा सुनता है। उसे पाने के लिए व्याकुल हो उठता है। उसका मंत्री मतिसागर जोगिनी का रूप धारणकर रत्नावली के पास जाता है। उसे वर-प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए कहता है कि तुम्हारे यहां के कामदेव के मन्दिर में जो तुम्हारे मार्ग को रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा। मन्त्री लौटकर रत्नशेखर को रत्नावलि के पास ले जाता है। उनका कामदेव मन्दिर में मिलन होने के बाद विवाह हो जाता है। राजा रत्नशेखर अपने नगर में लौटकर पर्व के दिनों में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इससे उसके लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

इस तरह यह कथा मानव प्रेम के सात्विक स्वरूप को उपस्थित करती है। इसमें काम के स्थान पर प्रेम को प्रधानता दी गयी है, जो जीवन में अपूर्व आनन्द का संचार करता

है। इस कथा में एक उपन्यास के समस्त तत्व और गुण विद्यमान हैं। कथा में गद्य व पद्य दोनों का प्रयोग सरस शैली में हुआ है। ग्रन्थ में सूक्तियां प्रयुक्त हुई हैं। यथा—

वर एवं कन्या का उचित संयोग मिलना लोक में दुर्लभ है-

"वरकन्ना संजोगी अणुसरिसो दुल्लहो लोए"

जिसके घर में युवा कन्या हो उसे सैंकड़ों चिन्ताएं रहती हैं-

"चिंता सहस्स भरिओ पुरिसो सव्वोवि होइ अणुवरयं।
जुव्वण-भर-भरिअंगी जस्स घरे वड्ढए कन्ना।"

विरह का दुख बड़ा कठिन है-

"दिण जायइ जणवत्तणी पुण रत्तडी न जाई"।

इस तरह राजस्थान के प्राकृत-ग्रन्थों में कथाग्रन्थों की अधिकता है। भारतीय कथा-साहित्य प्राकृत की इन कथाओं से प्रभावित हुआ है। इन कथाओं के अनेक अभिप्राय अन्य भाषाओं की कथाओं में उपलब्ध होते हैं।[40] प्राकृत की ये कथाएं धर्म और नैतिक आदर्शों से जुड़ी हुई हैं। यद्यपि इनमें काव्य तत्वों की कमी नहीं है।

2. प्राकृत चम्पू-काव्य :

प्राकृत साहित्य में पद्य एवं गद्य की स्वतंत्र रचनाएं उपलब्ध हैं। कथा एवं चरित ग्रन्थों में पद्य एवं गद्य की मिश्रित शैली भी प्रयुक्त हुई है। किन्तु भारतीय साहित्य में जिसे चम्पू विधा के नाम से जाना गया है, उसका प्रतिनिधित्व प्राकृत में उद्योतनसूरि की कुवलयमालाकहा ही करती है। संस्कृत एवं प्राकृत के अन्य चम्पू काव्य कुवलयमाला के बाद ही लिखे गये हैं।

कुवलयमालाकहा – आचार्य उद्योतनसूरि 8वीं शताब्दी के बहुश्रुत विद्वान थे। उनकी एक मात्र कृति कुवलयमालाकहा उनके पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का निष्कर्ष है। उद्योतनसूरि ने न केवल सिद्धान्त-ग्रन्थों का गहन अध्ययन और मनन किया था, अपितु भारतीय साहित्य की परम्परा और विधाओं के भी वे ज्ञाता थे। सिद्धान्त, साहित्य और लोक-संस्कृति के सुन्दर-सामंजस्य का प्रतिफल है- उनकी कुवलयमालाकहा।

कुवलयमाला की रचना जाबालिपुर (जालौर) में वि.सं. 835 ई. सन् 779 में हुई थी। उद्योतनसूरि ने वहां ऋषभ जिनेश्वर के मन्दिर के उपासरे में बैठकर इस ग्रन्थ को लिखा था।[41] उस समय रणहस्तिन् वत्सराज का वहां राज्य था। इस तरह इतनी प्रामाणिक सूचनाएं इस ग्रंथ में होने से इसकी साँस्कृतिक सामग्री भी महत्वपूर्ण हो गयी है।

उद्योतनसूरि ने इस ग्रन्थ में क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह जैसे विकारों के पात्रों के रूप में उपस्थित किया । इन पांचों की प्रमुख कथाओं के साथ कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला के परिणय, दीक्षा आदि की कथा भी इसमें वर्णित है। कुल 27 अवान्तर प्राकृत कथाएं इसमें हैं। भारतीय लोक-कथाओं का प्रतिनिधित्व कुवलयमाला की कथाओं द्वारा होता है।

कुवलयमालाकहा राजस्थान की प्राकृत रचनाओं में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें प्रथम बार कथा के भेद-प्रभेदों में संकीर्ण कथा के स्वरूप का परिचय दिया गया है, जिसका उदाहरण यह कृति स्वयं है। क्रोध आदि अमूर्त भावों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने से कुवलयमाला को भारतीय रूपकात्मक काव्य-परम्परा की जननी कहा जा सकता है। इसकी कथावस्तु कर्मफल, पुनर्जन्म एवं मूल वृत्तियों के परिशोधन जैसी सांस्कृतिक विचारधाराओं पर आधारित है। आठवीं शताब्दी के सामाजिक-जीवन का यथार्थ चित्र इस कृति में समाहित है। समाज की समृद्धि तत्कालीन व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार पर आधारित थी, जिसका सूक्ष्म विवेचन इसमें हुआ है।[42]

इस कृति की अप्रतिम उपयोगिता इसकी भाषागत समृद्धि के कारण है।[43] संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं पैशाची के स्वरूप को सोदाहरण इसमें प्रस्तुत किया गया है। 18 देशों (प्रान्तों) की भाषा के नमूने पहली बार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं। न केवल भाषा अपितु प्रत्येक प्रान्त के लोगों की पहिचान एवं उनके स्वभाव आदि का वर्णन भी कुव. में अपना महत्व रखता है। मारवाड़ के व्यापारियों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि मारुक लोग बांके, सुस्त, जड़ बुद्धिवाले, अधिक भोजन करने वाले तथा कठोर एवं मोटे अंगों वाले थे। वे "अप्पां-तुप्पां" (हम तुम) जैसे शब्दों का उच्चारण कर रहे थे। यथा—

बंके जडे या जड्डे बहु-भोइ कठिण-पीण-सूणंगे।

"अप्पां-तुप्पां" भणिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो॥

(कुव. 153-3)

आठवीं शताब्दी के धार्मिक-जगत् का वैविध्यपूर्ण चित्र कुव. में उपस्थित किया गया है। उस समय के 32 मत-मतान्तरों की व्याख्या उद्योतनसूरि ने जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में की है। शिक्षा एवं कला के क्षेत्र में उस समय के शिक्षण-संस्थान कितने महत्वपूर्ण थे, इसकी जानकारी भी इस ग्रन्थ में मिलती है।[44] कुवलयमाला न केवल सांस्कृतिक अपितु काव्यात्मक दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट कृति है। गद्य एवं पद्य में निबद्ध कई वर्णन बड़े मनोहारी हैं। संध्यावर्णन एवं लक्ष्मी वर्णन इसके प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मी और नारी के स्वभावों का सुन्दर चित्रण निम्न गाथा में द्रष्टव्य है-

आलिंगियं पि मुंचइ लच्छी पुरिसं ति साहस-विहुणं।

गोत्त-क्खलण-क्लिक्खा णियव्व दइया ण संदेहो॥

(कुव. 66-19)

कुव. में अनेक नीति-वाक्यों का प्रयोग हुआ है। कुछ सूक्तियां बड़ी सटीक हैं। यथा—

"मा अप्पयं पसंसह जइ वि जसं इच्छसे विमलं" **(43-32)**

(यदि विमल यश की आकांक्षा है तो अपनी प्रशंसा मत करो)

"जं कुंभारी सूया लोहारी किं धयं पियउ"

(कुम्हारी (स्त्री) के प्रसूता होने पर लुहारिन (स्त्री) को घी पिलाने से क्या)

चम्पूविधा में कुवलयमालाकहा के अतिरिक्त कोई अन्य स्वतंत्र रचना प्राकृत में नहीं है। यद्यपि गद्य-पद्य में कई प्राकृत चरित्र ग्रन्थ लिखे गये हैं।[45]

3. व्यंग्य कथा धूर्ताख्यान :

राजस्थान में रचित प्राकृत साहित्य में 'धूर्ताख्यान' व्यंगोपहास शैली में लिखी गयी अनूठी रचना है। आचार्य हरिभद्र ने इसे चित्तौड़ में लिखा था।[46] समराइच्चकहा में हरिभद्र ने काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है तो धूर्ताख्यान में वे एक कुशल उपदेशक के रूप में प्रगट हुए हैं। इस कथा में हरिभद्र ने पुराणों और रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों में पायी जाने वाली कथाओं की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक और अबौद्धिक मान्यताओं तथा प्रवृतियों का कथा के माध्यम से निराकरण किया है।[47]

धूर्ताख्यान का कथानक सरल है। यह पांच धूर्तशिरोमणि मूलश्री, कंडरीक, एलापाढ, शश और खंडपाणा की कथा है। चार पुरुष और एक नारी खंडपाणा इस कथा के मूल संवाहक हैं। इनमें से प्रत्येक धूर्त असंभव और काल्पनिक अपनी कथा कहता है। दूसरे धूर्त उसकी कथा को प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण देकर सही सिद्ध कर देते हैं। अन्त में खंडपाणा अपना अनुभव सुनाती है– तरुण अवस्था में मैं अत्यन्त रूपवती थी। एक बार मैं ऋतु-स्नान करके मंडप में सो रही थी। तभी मेरे लावण्य से विस्मित होकर पवन ने मेरा उपभोग किया। उससे तुरन्त ही मुझे एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह मुझसे पूछकर कहीं चला गया। यदि मेरा उक्त कथन असत्य है तो आप चारों लोग हमारे भोजन का प्रबन्ध करें और यदि मेरा अनुभव सत्य है तो इस संसार में कोई भी स्त्री अपुत्रवती न होनी चाहिये। क्योंकि पवन (हवा) के समागम से सबको पुत्र हो सकता है। मूल श्री नामक धूर्त ने खंडपाणा के इस कथन का समर्थन महाभारत आदि के उद्धरण देकर किया।

हरिभद्र जैन परम्परा को मानने वाले थे। अतः उन्होंने वैदिक परम्परा में प्रचलित काल्पनिक कथाओं एवं अबौद्धिक धारणाओं का निरसन करना चाहा है। कथाकार ने स्वयं इन मान्यताओं पर सीधा प्रहार न कर कथा के पात्रों द्वारा व्यंग शैली में उनकी निस्सारता उपस्थित की है। सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की अस्वाभाविक कल्पना, अग्नि आदि का वीर्यपान, ऋषियों की काल्पनिक कार्य-प्रणाली, अन्धविश्वास आदि अनेक मान्यताओं का खण्डन इस ग्रन्थ द्वारा हुआ है। किन्तु शैली इस प्रकार की है कि पाठक ग्रन्थ को उपन्यास जैसी रुचि से पढ़ सकता है। सर्वत्र कौतुहल बना रहता है। हास्य-व्यंग की इस अनुपम कृति से आचार्य हरिभद्र की मौलिक कथा-शैली परिलक्षित होती है। धूर्ताख्यान की इस शैली ने आगे चलकर धर्म-परीक्षा जैसी महत्वपूर्ण विधा को विकसित किया है।[48]

4. चरित काव्य :

प्राकृत काव्यों में कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त चरित्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। चरित्र काव्यों के मूल स्रोत जैन आगम ग्रन्थ हैं। उनके प्रमुख महापुरुषों के चरित्रों को लेकर इन

काव्य-ग्रन्थों की रचना की है।[49] प्राकृत के चरित्र-काव्यों में कथा एवं नीति दोनों साथ-साथ चलती है। प्रमुख चरित्रों के अतिरिक्त जन-जीवन के व्यक्तियों के भी चरित्र इन ग्रन्थों में सम्मिलित हैं। राजस्थान के प्राकृत साहित्यकारों ने 10-15 चरित ग्रन्थों की रचना विभिन्न स्थानों में की है। कुछ प्रमुख चरितकाव्यों का परिचय द्रष्टव्य है।

सिरिविजयचंद केवलिचरियं – श्री अभयदेवसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तर ने वि.सं. 1127 में देवावड नगर में वीरदेव के अनुरोध पर इस चरित की रचना की थी।[50] विजयचन्द्र के केवलज्ञान की प्राप्ति तक की कथा लेखक को अपनी कल्पना-शक्ति से प्रसूत हुई है तथा बाद में जिनपूजा के महात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। जिनेन्द्र देव की पूजा जिन द्रव्यों से करनी चाहिए उन सबके सम्बन्ध में एक-एक कथा इस चरित काव्य में है। कथाओं का स्वतंत्र महत्व भी है। वस्तुतः भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन आलंकारिक भाषा में कथाओं के माध्यम से इस चरित ग्रन्थ में किया गया है।

सुरसुन्दरीचरियं – जिनेश्वरसूरि के शिष्य साधु धनेश्वर ने वि.सं. 1095 में चड्डावलि (आबू) नामक स्थान में इस ग्रन्थ की रचना की थी।[51] यह एक प्रेमकथा है। सुरसुन्दरी और मकरकेतु की इस प्रणय-कथा को कवि ने इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है कि धार्मिक वर्णनों का बोझ ही प्रतीत नहीं होता। सारी कथा, नायिका के चारों ओर घूमती है। चरितों के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रस्तुत करने में तथा काव्यात्मक वर्णनों की छटा दिखाने में धनेश्वरसूरि को पूर्ण सफलता मिली है। विरह से संतप्त हुए पुरुष की उपमा कवि ने भाड़ में भूंजे जाते हुए चने के साथ दी है-

'भट्ठियचणगो वि य सयणीये कीस तडफडसि'

एक स्थान में कहा गया है कि राग के न होने से सुख एवं रागयुक्त होने से दुःख प्राप्त होता है-

तावच्चिय परमसुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ।

हंदि! सरागम्मि मणे दुक्खसहस्साइ पविसंति॥

इस चरित-काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। समस्त काव्य प्रौढ़ एवं उदारत्त शैली में लिखा गया है।

रयणचूडारायचरियं : – इसके रचियता आचार्य नेमिचन्द्र हैं। इन्होंने इस काव्य को गुजरात एवं राजस्थान दोनों प्रदेशों में भ्रमण करते हुए पूरा किया था।[52] प्राकृत गद्य में रचित यह धर्मप्रधान कथा है। इस चरित-काव्य में नायक रत्नचूड का सम्पूर्ण चरित वर्णित है। उसके चरित का विकास किस क्रम से हुआ है, इसका काव्यात्मक वर्णन इस ग्रन्थ में है। मनोभावों का यहां सुन्दर चित्रण किया गया है। घटनाक्रम में पूर्वजन्म की घटनाएं वर्तमान जीवन के चरित का स्फोटन करती है। अवान्तर कथाओं का संयोजन भी सुन्दर ढंग से हुआ है। इस कथा में नायक ने जो नायिका को पत्र लिखा है, वह बहुत मार्मिक है[53] काव्य के वस्तु वर्णन प्रशंसनीय हैं।

सुदंसणाचरियं – यह चरितकाव्य देवेन्द्रसूरि का लिखा हुआ है। इन्होंने अर्बुदगिरि पर

सूरिपद प्राप्त किया था।[54] अतः राजस्थान आपका कार्यक्षेत्र रहा होगा। इस ग्रन्थ में सुदर्शना राजकुमारी के जीवन की कथा है। वह अनेक विधाओं व कलाओं में पारंगत होकर श्रमणधर्म में दीक्षित होती है। अवान्तर कथाओं द्वारा उसके जीवन के विकास को उठाया गया है। शील की काव्य में प्रतिष्ठा है। कवि जीवन की तीन विडम्बनाओं को गिनाता है-

तक्क विहूणो विज्जो, लक्खणहीणो य पंडिओ लोए।

भावविहूणो धम्मो तिण्णिवि गरुइ विडम्बणया॥

अंजनासुन्दरी चरित – राजस्थान में केवल पुरुष कवियों ने ही नहीं, अपितु साध्वियों ने भी प्राकृत में रचनाएं लिखी हैं। जिनेश्वरसूरि की शिष्या गुणसमृद्धि महत्तरा ने प्राकृत में अंजनासुन्दरी चरित की रचना की थी। इस ग्रन्थ की रचना जैसलमेर में हुई थी।[55] 504 श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ में महसती अंजना का जीवन-चरित सरस शैली में वर्णित है।

गणधरसार्द्धशतक:– इसके रचयिता जिनदत्तसूरि राजस्थान के प्रभावशाली साहित्यकार हैं। इनको चित्तौड़ में वि.सं. 1169 में आचार्यपद मिला तथा अजमेर में वि.सं. 1211 में इनका अवसान हुआ। इनकी 9-10 रचनाएं प्राकृत में हैं। गणधरसार्द्धशतक उनमें से एक है। भगवान् महावीर से लेकर जिनवल्लभसूरि तक के आचार्यों का गुणानुवाद इस कृति में है।[56] यद्यपि चरित एवं काव्य की दृष्टि से यह कृति प्रौढ़ नहीं है, किन्तु इसकी ऐतिहासिक उपयोगिता है।

इन चरितग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत में और भी चरितकाव्य पाये जाते हैं जिनकी रचना गुजरात एवं राजस्थान के जैनाचार्यों ने की है। देवेन्द्रसूरि का कण्हचरियं, नेमिचन्द्र कृत महावीरचरियं, शांतिसूरिकृत पृथ्वीचन्द्रचरित, जिनमाणिक्यकृत कूर्मापुत्रचरित आदि उनमें प्रमुख हैं।

5. धार्मिक व दार्शनिक ग्रन्थ :

वैसे तो जैनाचार्यों द्वारा रचित सभी ग्रन्थों में धर्म व दर्शन का समावेश होता है। काव्य, चरित, कथा आदि ग्रन्थों में अध्यात्म की बात कही जाती है। किन्तु प्राकृत के इन ग्रन्थकारों ने कुछ ग्रन्थ धर्म व दर्शन के लिए प्रतिपादन के लिए ही लिखे हैं। आगमिक टीका आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त इस क्षेत्र के निम्न ग्रन्थ प्राकृत की महत्वपूर्ण उपलब्धि कहे जा सकते हैं।

सम्मइसुत्तं – आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का 'सम्मइसुत्त' प्राकृत भाषा में लिखा गया दर्शन का पहला ग्रन्थ है।[57] इसमें नय, ज्ञान, दर्शन आदि का संक्षेप विवेचन है। अर्थ की जानकारी नय ज्ञान से ही हो सकती है, इस बात को आचार्य ने जोर देकर कहा है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा में मान्य है। 5-6वीं शताब्दी में लिखा गया यह ग्रन्थ हो सकता है, राजस्थान का प्रथम प्राकृत ग्रन्थ हो।

योगशतक – आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने राजस्थान में धर्म व दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का प्राकृत में प्रणयन किया है। उनमें योगशतक (जोगसयग) प्रमुख है। इस ग्रन्थ में योग का लक्षण, योगी का स्वरूप, आत्मा-कर्म का सम्बन्ध, योग की सिद्धि आदि अनेक

दार्शनिक तथ्यों का निरूपण है।[58]

धर्मोपदेशमाला– विवरण इसकी रचना जयसिंहसूरि ने वि.सं.915 में नागौर में की थी।[59] गद्य-पद्य मिश्रित इस ग्रन्थ में कवि ने धार्मिक तत्वज्ञान को प्रस्तुत करने के लिए कथाएं प्रस्तुत की हैं। दान, शील, तप की प्रतिष्ठा इन कथाओं के द्वारा होती है।

भव-भावना – मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1170 में मेड़ता और छत्रपल्ली में रहकर भवभावना (उपदेशमाला) और उस पर स्वापज्ञवृति की रचना की थी।[60] ग्रन्थ में 531 गाथाओं में 12 भावनाओं का वर्णन है। वृत्ति में अनेक प्राकृत कथाएं गुंफित हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्व है। अनेक सुभाषित इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। विपत्ति के आने के पहिले ही उसका उपाय सोचना चाहिये। घर में आग लगने पर कोई कुआं नहीं खोद सकता। यथा-

पढमं पि आवयाणं चिंतेयव्वो नरेण पडियारो।

नहि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउ तरइ काई॥

हेमचन्द्रसूरि की दूसरी महत्वपूर्ण रचना उपदेशमाला या पुष्पमाला है। इसमें शास्त्रों के अनुसार विविध दृष्टान्तों द्वारा कर्मों के क्षय का उपाय प्रतिपादित किया गया है। तप आदि के स्वरूप एवं इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी विशेष जानकारी इसमें दी गयी है।[61]

संवेगरंगशाला – इसके रचयिता जिनचन्द्रसूरि राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने शान्तरस से भरपूर इस संवेगरंगशाला की रचना वि.सं. 1125 में की थी। इसमें दस हजार तिरेपन गाथाओं में संवेगभाव की महत्ता प्रगट की गयी है।[62] कहा गया है कि जिसके संवेगभाव नहीं है उसकी बाकी सब तपस्या आदि भूसे के समान निस्सार है—

'जइ नो संवेगरसा ता तं तुसखंडणं सव्वं।'

विवेकमंजरी – महाकवि श्रावक आसड़ ने वि.सं. 1248 में विवेकमंजरी की रचना की थी। इस ग्रन्थ में विवेक की महिमा बतलायी गयी है तथा मन की शुद्धि की प्रेरणा दी गयी है।[63] इसमें 12 भावनाओं का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने अपने पुत्र शोक में अभयदेवसूरि के उपदेश से की थी।[64]

षष्टिशत – इसके रचयिता नेमिचन्द्र भण्डारी मारवाड़ के मरोट गांव के निवासी थे।[65] उन्होंने 161 गाथाओं में इस ग्रन्थ की रचना की है। इस रचना में जैन गृहस्थ व साधु के शिथिल आचार की कठोर आलोचना की गयी है। इसमें सद्‌गुरु एवं सदाचार के स्वरूप का भी प्रतिपादन है।

विवेकविलास – इस कृति के रचयिता जिनदत्तसूरि हैं। इन्होंने जाबालिपुर के राजा उदयसिंह के मन्त्री के पुत्र धनपाल के संतोष के लिए इस मन्थ को लिखा था।[66] इस मन्थ के 12 उल्लासों में मानव जीवन को नैतिक और धार्मिक बनाने के लिए सामान्य नियमों का प्रतिपादन है।

जंबुद्दीपपण्णति संग्रह – आचार्य वीरनंदि के शिष्य पद्मनंदि के ने इस ग्रन्थ की रचना

वारांनगर (कोटा) में की थी। इसका रचनाकाल 11वीं शताब्दी होना चाहिए। इस ग्रन्थ में 2389 गाथाएं हैं, जिनमें जैन भूगोल के परिचय के साथ ही भगवान महावीर के बाद की आचार्य-परम्परा दी गयी है।[67] पद्मनंदि का 'धम्मरसायण' नाम का एक और प्राकृत ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें 193 गाथाओं में धर्म का प्रतिपादन किया गया है।[68]

इनके अतिरिक्त अन्य धार्मिक ग्रन्थ भी प्राकृत में राजस्थान में लिखे गये हैं। ये परिमाण में छोटे और किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही लिखे जाते थे। जीवसत्तरी, अंगुलसत्तरि, प्रवचनपरीक्षा, द्वादशकुलक, कर्मविचार-प्रकरण, चैत्यवन्दनकुलक, विंशिका, संदेहदोलावलि, अवस्थाकुलक आदि इसी प्रकार की धार्मिक रचनाएं हैं। भाषा एवं विषय की दृष्टि से इनका अपना महत्व है।

6. लाक्षणिक ग्रन्थ :

राजस्थान के प्राकृत साहित्यकारों ने काव्य एवं धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कोश, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि पर भी प्राकृत में ग्रन्थ लिखे हैं। इससे प्रतीत होता है कि जैनाचार्य जीवनोपयोगी प्रत्येक विषय पर प्राकृत में ग्रन्थ लिखते थे। लोकभाषा के विकास में उनका यह अपूर्व योगदान है।

पाइयलच्छी नाममाला – धनपाल ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं में रचनाएं लिखी हैं। उनकी 'पाइयलच्छी नाममाला' प्राकृत का प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए वि.सं. 1059 में की थी। इस ग्रन्थ में 279 गाथाएं हैं जिनमें 998 प्राकृत शब्दों के पयार्य दिये गये हैं। इस कोश में प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द भी संग्रहीत हैं। भ्रमर के लिए भसल, इंदिदर, धुअगाय जैसे देशी शब्दों का इसमें प्रयोग है। सुन्दर के लिए 'लट्ठं' तथा आलसी के लिए 'मट्ठ' शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[69]

रिट्ठसमुसच्चय – 'रिट्ठसमुच्चय' के कर्ता आचार्य दुर्गदेव दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् थे। इन्होंने वि.सं. 1089 में कुम्भनगर (कुंभेरगढ़, भरतपुर) में इस ग्रन्थ को समाप्त किया था। यह ग्रन्थ उन्होंने 'मरणकरंडिया' नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा है, जिसमें मरण-सूचक अनिष्ट चिन्हों (रिष्टों) का विवेचन है। ग्रन्थ में कुल 261 प्राकृत गाथाएं हैं। पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीन प्रकार के रिष्ट इस ग्रन्थ में बताये गये हैं। ग्रन्थ में स्वप्न विषयक जानकारी भी दी गयी है तथा विभिन्न प्रश्नों द्वारा भी व्यक्ति के मरण की सूचना प्राप्त करने का इसमें विधान है।[70]

अर्धकाण्ड – दुर्गदेव ने 'अग्घकंड' नाम को एक ग्रन्थ प्राकृत में लिखा है। इस ग्रन्थ से यह पता लगाया जा सकता है कि कौन-सी वस्तु खरीदने से और कौन सी वस्तु बेचने से लाभ हो सकता है।[71] इस ग्रन्थ का सम्बन्ध ज्योतिष से है।

ज्योतिषसार – हीरकलश 16वीं शताब्दी के विद्वान थे। बीकानेर एवं जोधपुर राज्य में इनका विचरण अधिक हुआ है। नागौर के डेह नामक स्थान में इनका देहान्त हुआ था।[73] इन्होंने वि.सं. 1621 में 'ज्योतिस्सार' की रचना प्राकृत में की थी। इसमें दो प्रकरण हैं। इस ग्रन्थ की प्रति बम्बई के माणिकचन्द्र भण्डार में है।[73] इस प्राकृत ग्रन्थ का सार हीरकलश ने

राजस्थानी भाषा में 'ज्योतिषहीर' नामक ग्रन्थ में दिया है।[74]

औदार्यचिन्तामणि व्याकरण – इसके रचयिता मुनि श्रुतसागर हैं। ये उभय भाषाचक्रवर्ती आदि उपाधियों से विभूषित एवं विद्यानंदि के शिष्य थे।[75] वि.सं. 1575 में इन्होंने 'औदार्य चिन्तामणि व्याकरण' की रचना की थी। इसकी अपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त है।[76] इसमें प्राकृत भाषा विषयक छह अध्याय हैं। प्रायः हेमचन्द्र और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरणों का इसमें अनुसरण किया गया है।

चिन्तामणि व्याकरण – भट्टारक शुभचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1605 में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें कुल 1224 सूत्र हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में इसमें अनुसरण किया गया है।[77] इस ग्रन्थ पर लेखक की स्वोपज्ञवृति भी है।[78]

छंदोविद्या – कवि राजमल्ल ने 16वीं शताब्दी में 'छंदोविद्या' की रचना राजा भारमल्ल के लिये की थी। भारमल्ल श्रीमालवंश का एवं नागौर का संधाधिपति था। अतः राजमल्ल भी राजस्थान से सम्बन्धित रहे होंगे। राजमल्ल का छंदोविद्या नामक ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में निबद्ध है। प्राकृत-अपभ्रंश का इसमें अधिक प्रयोग हुआ है। यह ग्रन्थ छन्दशास्त्र के साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।[79]

छंदकोश – छंदकोश के रचयिता रत्नशेखरसूरि 15वीं शताब्दी के विद्वान थे। इनका सम्बन्ध नागपुरीयतपागच्छ से था। अतः इनका कार्यक्षेत्र भी राजस्थान हो सकता है। छंदकोश में कुल 74 पद्य हैं। 46 पद्य अपभ्रंश में एवं शेष प्राकृत में हैं। कई प्राकृत छंदों का लक्षण इस ग्रन्थ में दिया गया है।[80]

7. प्राकृत के शिलालेख :

राजस्थान में प्राकृत भाषा का प्रचार धर्म-प्रभावना एवं साहित्य तक ही सीमित नहीं था अपितु प्राकृत में शिलालेख आदि भी यहाँ लिखे जाते थे। जोधपुर से 20 मील उत्तर की ओर घटयाल नाम के गांव में कक्कुक का एक प्राकृत शिलालेख उत्कीर्ण है। यह शिलालेख वि.सं. 918 में लिखाया गया था। इसमें जैन मंदिर आदि बनवाने का उल्लेख है। 23 गाथाओं में यह शिलालेख है।[81] इससे ज्ञात होता है कि कक्कुक प्रतिहार राजा ने अपने सदाचरण से मारवाड़, माडवल्ल तमणीं एवं गुजरात आदि के लोगों को अनुरक्त कर रखा था। यथा –

मरु माडवल्ल-तमणी-परिअंका-मज्जगुज्जरत्तासु।

जणिओ जेन जणाणं सच्चरिअगुणेहि अणुदाहो ॥16॥

8. आधुनिक प्राकृत-साहित्य :

राजस्थान में प्राकृत ग्रन्थों के लेखन का कार्य वर्तमान युग में भी चल रहा है। प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद, प्रकाशन आदि कार्यों के अतिरिक्त जैन मुनि स्वतंत्र प्राकृत रचनाएं भी लिखते हैं। गुजरात में विहार करते हुए मूर्तिपूजक आचार्य विजयकस्तूरसूरि ने वि.सं. 2027 में 'पाइयविन्नाणकहा' नामक पुस्तक प्राकृत में लिखी है।[82]

इसके दो भागों में प्राकृत की 108 कथाएं लिखी गयी हैं। आधुनिक शैली में लिखी गई ये कथाएं सरल और सुबोध हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के मुनियों ने भी प्राकृत में रचनाएं लिखी हैं। श्री चन्दनमुनि ने बीदासर, चूरू आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए प्राकृत में 'रयणवालकहा' 'जयचरिअं' एवं 'णीई-धम्म-सुत्तीआ' ग्रन्थों की रचना की है।[83] इनमें रयणवालकहा बहुत सुन्दर और आधुनिक कथा ग्रन्थ है। वर्षाकाल का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

समत्थ-जीवलोअ- तत्तिणिवारयो, णाणाविह तरु-लया-पुप्फ-फल-गुम्म-विच्चित्त-तणोसहि-उप्पायगो, णिउजल-पएसेगजीवणाहारो, हालिएहिं अणिमिसदिट्ठीए दिट्ठिआ चिरं विहीरिओ उब्भूओ पाउसिओ कालो (र. क. पृ. 68)

मुनि श्री नथमल जी ने 'तुलसीमंजरी' के नाम से प्राकृत व्याकरण प्रक्रिया की भी रचना की है जो प्रकाशित हो चुकी है।

9. राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों में प्राकृत ग्रन्थ :

राजस्थान के प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण परिचय तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक यहाँ के ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध प्राकृत ग्रन्थों का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत न किया जाय। ग्रन्थ-भण्डारों की जो सूचियां प्रकाशित हैं उनसे तथा ग्रन्थ-भण्डारों के अवलोकन से इस प्रदेश के प्राकृत ग्रन्थों का परिचय तैयार किया जा सकता है। तभी ज्ञात होगा कि राजस्थान के मुनियों, श्रावकों, राजाओं आदि ने प्राकृत साहित्य के विकास में कितना योगदान किया है।

अपभ्रंश साहित्य :

अपभ्रंश साहित्य 7वीं से 12वीं शताब्दी तक देश के विभिन्न विभागों में मुख्यतः जैनाचार्यों द्वारा लिया गया है। अपभ्रंश की अधिकांश रचनाओं का सम्बन्ध राजस्थान से है। क्योंकि ठनके लेखकों-जैनाचार्यों का कार्यक्षेत्र प्रमुखरूप से पश्चिमी भारत था। अपभ्रंश की उन कुछ प्रमुख रचनाकारों और उनकी रचनाओं का परिचय यहाँ प्रस्तुत है, जिनका किसी-न-किसी रूप में राजस्थान से सम्बन्ध रहा है।

1. हरिषेण :– राजस्थान से चित्तौड़ जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। संस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान सिद्धसेन, ऐलाचार्य, वीरसेन एवं हरिभद्रसूरि जैसे आचार्यों के कार्य-क्षेत्र होने का सौभाग्य चित्तौड़ को प्राप्त है। अपभ्रंश भाषा के प्रमुख विद्वान हरिषेण भी इस नगरी की शोभा थे। उनके 'धम्मपरिक्खा' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि हरिषेण के दादा हरि मेवाड़ देश के रहने वाले थे और सिरि उजपुर के धक्कड़ कुल के थे। हरि के गोवर्द्धन नाम का एक पुत्र हुआ, जिसकी पत्नी का नाम धनवती था। इनके पुत्र आचार्य हरिषेण थे, जिन्होंने वि.सं. 1044 (943 ई.) में 'धम्मपरिक्खा' की रचना की थी। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने अचलपुर में की थी। इस समय चित्तौड़ छोड़कर वे यहां आ बसे थे।

आमेर शास्त्र-भण्डार में 'धम्मपरिक्खा' की कई प्रतियां उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में 11 संधियां हैं, जिनमें, 238 कडवक हैं। लेखक ने बुद्धि की सार्थकता प्रदान करने के लिए इस ग्रन्थ को लिखा है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति के उत्तम साधन का प्रतिपादन है। अन्य धर्मों की इसमें समीक्षा की गयी है।[84]

2. धनपाल (प्रथम) :– कवि धनपाल ने राजस्थान के सांचोर नाम नगर में स्थित महावीर जिनालय सम्बन्धी एक रचना अपभ्रंश में की है, जिसका नाम सत्यपुरीय महावीर उत्साह है। ये धनपाल महाराजा भोज के सभाकवि थे तथा संस्कृत, प्राकृत के भी पण्डित थे। इनकी इस रचना से महमूद गजनी द्वारा मूर्तिभंजन की एक घटना से पता चलता है, जिसमें वह सफल नहीं हुआ था। यह रचना विक्रम की 11वीं शताब्दी की प्रतीत होती है।

3. धनपाल (द्वितीय) :– 10-11वीं शताब्दी में अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि एक अन्य धनपाल हुए हैं। इन्होंने 'भविसयत्तकहा' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि इनकी रचना में किसी स्थान-विशेष का उल्लेख कवि की जन्म भूमि के रूप नहीं किया गया है किन्तु इस समय कवि राजशेखर के अनुसार समस्त मरुभूमि में अपभ्रंश का प्रयोग होता था। अतः संभव है, ये धनपाल मारवाड़ प्रदेश में किसी नगर के निवासी रहे होंगे। धाकड़वंश का होने के कारण धनपाल को राजस्थान का माना जा सकता है। क्योंकि धाकड़ (धर्कट) राजस्थान की मूल जाति थी।[85]

4. धाहिल :– धाहिल 10वीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि थे। इनका सम्बन्ध महाकवि माघ के वंश से है। अतः ये श्री माल वंशी गुर्जर वैश्य थे। इनकी जन्मभूमि भिन्नमाल रही होगी। इन्होंने 'पउमसिरीचरिउ' की रचना किस स्थान पर की इसका पता नहीं चलता। इनकी यह रचना धार्मिक होते हुए भी रम्य और रोमाण्टिक है।

5. लक्खण :– लक्खण कवि ने वि.सं. 1295 में 'जिनदत्तचरिउ' की रचना की। इनकी वृत्ति से ज्ञात होता है कि ये त्रिभुवनगिरि के निवासी थे। इसकी पहिचान जयपुर के समीप 'तहणगढ़' से की जाती है।

6. सिंह :– बारहवीं शताब्दी के सिंह कवि ने 'पज्जुन्नकहा' नामक अपभ्रंश काव्य की रचना बम्भणवाड़ में की थी, जो सिरोही में है।

7. विनयचन्द्र :– 13वीं शताब्दी में विनयचन्द्र नाम के दो अपभ्रंश के कवि हुए हैं। विनयचन्द्रसूरि ने 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' लिखी, जिसकी प्रति जैसलमेर भण्डार में है तथा विनयचन्द्र ने 'उपदेशमाला कल्याण' कृति लिखी, जिसकी प्रतियां नागौर के ग्रन्थ भण्डार में है। अतः एक कवि का जैसलमेर और दूसरे का नागौर कार्यक्षेत्र रहा होगा। विनयचन्द्र ने चूनड़ी आदि भी लिखी है।

8. जिनदत्तसूरि :– जिनदत्तसूरि युग प्रधान जैनाचार्य थे। इन्होंने प्राकृत के ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश की तीन रचनाएं लिखी हैं- चर्चरी, उपदेश रसायन-रास और कालस्वरुप-कुलकम्। चर्चरी इन्होंने बागड़ देश में लिखी थी। इनका जन्म वि.सं. 1132 में तथा मृत्यु वि.सं. 1211 में अजमेर में हुई। अतः जीवन पर्यन्त ये राजस्थान में भ्रमण कर साहित्य-सृजन करते रहे। इनके जीवन एवं कार्य आदि के सम्बन्ध में श्री अगरचन्द नाहटा

ने विशेष प्रकाश डाला है।[86] जिनदत्तसूरि की ये तीनों रचनाएं 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है।

9. जिनप्रभसूरि :– जिनप्रभसूरि ने अपभ्रंश में नाणप्पयास (ज्ञानप्रकाश) की रचना की है। इसमें 113 पद्य हैं। 'कुलक' के नाम से प्रसिद्ध इस कृति में ज्ञान का प्रतिपादन है। इनकी अपभ्रंश की दूसरी कृति धम्माधम्मवियार है। इसमें 18 पद्य हैं, जिनमें धर्म, अधर्म का स्वरुप स्पष्ट किया गया है। इन्होंने 'सावगविहि' नाम की भी एक रचना की है जो दोहा-छन्द में अपभ्रंश के 32 पद्यों की है। जिनप्रभसूरि संस्कृत-प्राकृत के भी अच्छे साहित्यकार थे। आपने दिल्ली पति महमूद तुगलक को भी अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया था। अतः आप लगभग 14वीं शताब्दी के विद्वान हैं। यद्यपि आपकी रचनाओं में रचना-स्थलों का संकेत नहीं है। किन्तु खरतरगच्छ की परम्परा में होने के कारण आप भी राजस्थान के रहे होंगे।

10. अमरकीर्ति :– अमरकीर्ति 13वीं शताब्दी (1217 ई.) के विद्वान थे। आपकी 'चक्कम्मोवएस' एवं 'पुरन्दरविधानकथा' अपभ्रंश कृतियां आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। आपके ग्रन्थों में गोदहयनगर एवं महियड नामक स्थानों का उल्लेख है, जो पश्चिमी भारत के नगर थे। संभव है, आपका कार्यक्षेत्र राजस्थान एवं गुजरात रहा हो।

11. श्रीचन्द्र :– श्रीचन्द्र 11-12वीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि थे। आपकी 'कथाकोश' एवं 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' दो कृतियां प्राप्त हैं। इनमें श्रीमालपुर (सिरिवालपुर) नगर का उल्लेख है। इससे ये राजस्थानी कवि प्रतीत होते हैं।

12. यशकीर्ति :– 15वीं शताब्दी के अपभ्रंश कवियों में यशकीर्ति प्रमुख कवि थे। आपने 1440 ई. में 'हरिवंश पुराण' तथा 1443 ई. में 'पाण्डवपुराण' की रचना की थी। 'पाण्डवपुराण' हंसराज के अनुरोध पर नागौर में तथा 'हरिवंशपुराण' जलालखां के राज्य इन्द्रपुर में लिखा गया था।[87] इन दोनों ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां आमेर और नागौर के शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध हैं। यशः कीर्ति ने गुर्जरदेश के सिद्धपाल के अनुरोध पर 'चन्दप्पहचरिउ' की भी रचना की थी।

13. विबुध श्रीधर :– श्रीधर 12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। आपने 'पासनाहचरिउ', 'सुकुमालचंरिउ' एवं 'भविसयत्तचरिउ' ये तीन रचनाएं अपभ्रंश में लिखी है। अंतिम रचना इन्होंने मायुरवंशीय नारायणसाहु की प्रेरणा से लिखी थी। एक ग्रन्थ में वलड नगर का भी उल्लेख है। अतः राजस्थान और गुजरात दोनों समान रूप से इनका कार्यक्षेत्र रहा होगा।

अपभ्रंश के इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त धवल (पासनाहचरिउ), देवसेनगणि, (सुलोचनाचरिउ), हरिभद्र (सनत्कुमारचरिउ), लक्षमदेव (णमिणाहचरिउ), धनपाल (बाहुबलिचरित), जयदेव (भावनासंधि) आदि अन्य कवियों का सम्बन्ध भी राजस्थान एवं गुजरात से रहा है। यहां के राजाओं और श्रीमन्तों की साहित्य के प्रति रुचि एवं संरक्षण-भावना के कारण संस्कृत, प्राकृत की भांति अपभ्रंश-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध हुआ है।

राजस्थान के अन्य भण्डारों में उपलब्ध अपभ्रंश रचनाएं :

अपभ्रंश साहित्य की अधिकांश रचनाएं राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों में ही प्राप्त हुई हैं। यह इस बात का द्योतक है कि राजस्थान अपभ्रंश भाषा की कृतियों के सृजन में जितना समृद्ध है, उतना ही उनकी सुरक्षा और प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में भी। डॉ. कासलीवाल ने ऐसी सौ अपभ्रंश रचनाओं का विवरण दिया है, जो राजस्थान में उपलब्ध है।[8] डॉ. देवेन्द्रकार शास्त्री ने समस्त राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य की 968 प्रतियों का विशेष विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है।[89]

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य-लेखक का निबन्ध- "राजस्थान में अपभ्रंश और जैन संस्कृत साहित्य"- जैन संस्कृति और राजस्थान।
2. जैन, कैलाशचन्द्र,-"जैनिज्म इन राजस्थान"।
3. शर्मा, दशरथ, "राजस्थान थ्रू द एजेज", बीकानेर, 1971।
4. द्रष्टव्य-देसाई मोहनलाल दलीचन्द-"जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास" 1933।
5. नाहटा अगरचन्द-"राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा" 1967।
6. मेहता, मोहनलाल-आगमिक व्याख्याएं, "जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग, 3", 1967।
7. संघवी, सुखलाल-"सन्मतिप्रकरण", प्रस्तावना, 1963।
8. मुख्तार, जुगलकिशोर, "पुरातन जैन वाक्य-सूचि", प्रस्तावना।
9. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥176॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
10. जीवनी के लिये द्रष्टव्य-संघवी 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' 1963।
11. द्रष्टव्य-शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन'।
12. उपाध्ये, ए.एन.-'कुवलयमालाकहा'-भूमिका
13. लेखक का प्रबंध-'कुवलयामालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' 1975।
14. जैन, ज्योतिप्रसाद, 'राजस्थान के सबसे प्राचीन साहित्यकार'-वीरवाणी, अप्रेल, 1966।
15. शास्त्री नेमिचन्द्र - 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ.239।
16. मेहता, मोहनलाल, 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास', भाग 4 पृ. 196।
17. मुनि जिनविजय, 'कथाकोष प्रकरण', भूमिका।
18. शाह, अम्बालाल प्रे. 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग 5 (लाक्षणिक साहित्य)

19. 'सत्यपुरीयमंडन-महावीरोत्साह' में उल्लेख।
20. डिंडिलवद्दनिवेसे पारद्धा संटिठएण सम्मता।
चड्डावल्लिपुरीए एसा फग्गुणचउम्मासे ॥22॥
21. देसाई-जै.सा.सं.इ.।
22. बांठिया, कस्तूरमल, 'हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र' 1967।
23. 'मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि स्मृति ग्रन्थ', पृ. 201
24. नाहटा: 'दादा जिनदत्तसूरि'
25. देसाई-जै.सा.सं.इ., पृ.275।
26. जैन, जगदीशचन्द्र,-'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृ. 505।
27. जैन, प्रा. सा. इ., पृ. 561।
28. मेहता, जै.सा.बृ.इ., भाग 4, पृ. 211।
29. शाह, जै.सा.बृ.इ., भाग 5, पृ. 242।
30. द्रष्टव्य-शाह, जै.सा.बृ.इ., भाग 5,।
31. शास्त्री, हरिभद्र की प्राकृत कथाओं का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली।
32. शास्त्री, प्रा.सा.आ.इ.पृ.476।
33. देशाई-जै.सा.सं.इ. अनुक्रमणिका, पृ. 861।
34. जैन, प्रा.सा.इ., पृ. 440।
35. मुनि जिनविजय 'कथाकोषप्रकरण' की भूमिका
36. मुनि जिनविजय, क.प्र. भूमिका।
37. जैन, प्रा.सा.इ.,पृ. 448।
38. शास्त्री, प्रा.सा.आ.इ., पृ. 503।
39. वही पृ. 510।
40. लेखक का निबन्ध-'पालि-प्राकृत कथाओं के अभिप्राय-"एक अध्ययन"
—राजस्थान भारती, भाग 11, अंक 1-3
41. जावालिउरं अट्ठावयं व अह विरइया तेण।
-णिम्मविया बोहिकरी भव्वाणं होउ सव्वाणं ॥॥
—कुव. 282, 21-23
42. जैन प्रेम सुमन-"कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन" वैशाली 1975
43. उपाध्ये, ए.एन., कुवलयमाला — इण्ट्रोडक्शन
44. जामखेडकर, कुवलयमालाकहा : ए कल्चरल स्टडी, नागपुर, 1974

45. शास्त्री, प्रा.सा.आ.ह.,पृ. 337।

46. चित्तउडदुग्ग सिरीसंठिएहिं सम्मतराय रत्तेहि।
सुचरिअ समूह सहिआ कहिआ एसा कहा मुवरा ॥

47 उपाध्ये, 'धूर्ताख्यान' भूमिका।

48. द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध - 'कुवलयमाला में धम्मपरीक्खा अभिप्राय'
-जैन सिद्धान्त भास्कर, 1975

49. शास्त्री, प्रा.सा.इ.,पृ. 308-10।

50. देयावडवरनयरे रिसहजिणंदस्स मंदिरे रइयं।
नियवीरदेव सीसस्स साहुणो तस्स वयणेणं।
-प्रशस्ति, 151

51. चड्डावलिपुरिट्ठियो स गुरुणो आणाएं पाढंतरा।
कासी विक्कम-वच्छरम्मि य गए बाणकं सुन्नोडुये ॥
मासे भद्द गुरुम्मि कसिणो वीया-धणिट्ठादिने ॥
सु.च. 16-250-51

52. डिंडिलवद्दनिवेसे पारद्धा संहिएण सम्पत्ता।
चड्डावल्लिपुरिए एसा फग्गुंणचउम्मासे ॥
र.च., प्रशस्ति, 22

53. शास्त्री, प्रा.सा.आ.इ., पृ. 348

54. जैन, प्रा.सा.इ.,पृ. 561

55. देशाई, जै.सा.इ.,पृ. 438

56. मणिधारी जिनचन्द्रसूरि स्मृतिग्रन्थ, पृ. 23

57. संघवी, सुखलाल द्वारा सम्पादित एवं ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद से 1963 में प्रकाशित।

58. मेहता, जै.सा.बृ.इ., भाग 4, पृ. 234

59. नाहटा, रा.सा.गो.प. पृ.,17

60. जैन, प्रा.सा.इ.,पृ. 505

61. जैन, प्रा.सा.इ.,पृ. 514-15

62. गांधी, लालचन्द भगवान,-'संवेगरंगशाला आराधना'
—म. जिन. स्मृतिग्रन्थ, पृ. 14-15

63. मेहता-जै.सा.बृ.इ., भाग 4, पृ. 216

64. देसाई-जै.सा.सं.इ.पृ. 338-9

65. मेहता, जै.सा.बृ.इ., भाग 4, पृ. 211

66. वही, पृ. 217

67. प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 259

68. जैन प्रा.सा.इ., पृ. 315-16

69. शास्त्री, प्रा.सा.आ.इ., पृ. 537-38

70. शाह,जै.सा.बृ.इ. भाग 5, पृ. 202-203

71. वही, पृ.222

72. नाहटा, 'राजस्थानी भाषा के एक बड़े कवि हीरकलश'
—शोधपत्रिका वर्ष 7, अंक 4

73. शाह, जै.सा.बृष्.इ. भाग 5, पृ.186

74. साराभाई नबाब, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित

75. शाह, जै.सा.बृ.इ., भाग 5, पृ. 74

76. एनलस् आफ भंडारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग 13, पृ. 52-53।

77. शाह, वही, पृ. 74।

78. उपाध्ये, एएन.ए.भ.ओ.रिइ., वही, पृ. 46-52।

79. शाह, वही, पृ. 138।

80. शाह, वही, पृ. 149।

81. मूल प्राकृत एवं हिन्दी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य-शास्त्री, प्रा.सा.आ.इ., पृ. 255-57।

82. नेमिविज्ञान कस्तूरसूरि ज्ञान मंदिर, गोपीपुरा, सूरत से प्रकाशित।

83. भगवत प्रसाद रणछोड़दास, पटेल सोसायटी (शाहीबाग) अहमदाबाद से प्रकाशित।

84. सोमानी, रामवल्लभ, महाकवि हरिषेण, वीरवाणी, अप्रैल 1966, पृ. 52-55

85. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन - अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ. 74

86. द्रष्टव्य - युगप्रधान जिनदत्तसूरि

87. Dr. Kasliwal– Jain Granth Bhandaras in Rajasthan, p.140

88. जैन ग्रन्थ भंडारस् इन राजस्थान, परिशिष्ट, 3

89. डॉ. शास्त्री, अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियां, तृतीय अध्याय, पृ. 113-17.

❑❑❑

द्वादश

राजस्थान में जैनविद्या-अध्ययन

जैनविद्या वर्तमान में व्यापक रूप से प्रचिलित शब्द है, जिसके अन्तर्गत जैनदर्शन, जैन साहित्य, संस्कृति, जैन कला एवं प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का अध्ययन सम्मिलित है। इस दृष्टि से विचार किया जाये तो राजस्थान का जैनविद्या से बहुत पुराना सम्बन्ध है। जैन संस्कृति के विभिन्न आयाम राजस्थान में उद्घाटित हुए हैं। लगभग छठी शताब्दी से राजस्थान जैन साहित्य के लेखन एवं पठन-पाठन का प्रमुख केन्द्र बन गया था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि की भाषाओं में इस प्रदेश में जैन साहित्य की रचना हुई है। बड़े-बड़े ग्रन्थ-भण्डार यहां पर स्थापित हुए, जो जैनविद्या के शिक्षण और अध्ययन के प्रमुख केन्द्र थे। राजस्थान के इतिहास और कला के समवर्द्धन में जैन-परम्परा का पर्याप्त योगदान रहा है। अतः स्वाभाविक है कि जैन साहित्य और कला की इस भूमि में जैनविद्या का अध्ययन वर्तमान में भी गतिशील हो।

सामाजिक संस्थाएं - धार्मिक शिक्षण :

राजस्थान में उच्च स्तरीय अध्ययन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भ हुआ है। किन्तु इसके पूर्व भी प्रारम्भिक स्तर पर कई संस्थाओं के द्वारा जैनविद्या के अध्ययन को गति मिलती रही है। जैन साधुओं का जीवन स्वाध्याय में अधिक व्यतीत होता है। अतः वे समाज को भी जैन साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा देते रहे हैं। परिणांम-स्वरूप समाज में कई गुरुकुलों की स्थापना हुई, जहां जैनविद्या का पठन-पाठन होता रहा है। इनमें श्री शांतिवीर दि. जैन गुरुकुल, जयपुर, श्री धार्मिक शिक्षण-शाला, लाल भवन, जयपुर, श्री आत्मानन्द जैन धार्मिक पाठशाला, जयपुर, श्री साधुमार्गी जैन सिद्धान्त-शाला, ब्यावर, वर्धमान जैन धार्मिक पाठशाला, जोधपुर, श्री पार्श्वनाथ जैन तत्वज्ञान विद्यापीठ, अजमेर, श्री कृष्णाबाई मुमुक्षु महिलाश्रम, श्री महावीरजी, श्री गोदावत जैन गुरुकुल, छोटी सादड़ी श्री जवाहर विद्यापीठ कानोड़, श्री यशकीर्ति दि. जैन गुरुकुल, ऋषभदेव, श्री मरुधर बालिका विद्यापीठ, रानी, श्री गौतम जैन स्कूल सोजतसिटी, श्री सेठिया जैन शिक्षण-संस्थान, बीकानेर आदि संस्थाएं प्रमुख हैं। इन संस्थाओं द्वारा जैनविद्या का प्रारम्भिक शिक्षण ही दिया जाता था। किन्तु इनसे निकलने वाले जैन विद्वानों ने जैनविद्या के अध्ययन को विशेष गति प्रदान की है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त राजस्थान में अनेक जैन महाविद्यालय एवं विद्यालय भी कार्यरत हैं,

जहां प्रकारान्तर से जैनविद्या के पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिलता है।

परीक्षा बोर्ड : परम्परागत पाठ्यक्रम :

जैन समाज द्वारा संचालित संस्थाओं में जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन इतने व्यापक स्तर पर होता है कि उसके लिए कुछ स्वतंत्र परीक्षा-बोर्ड भी संचालित हो रहे हैं, जिनमें हजारों की संख्या में विद्यार्थी परीक्षा देते हैं। श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन परीक्षा बोर्ड, बीकानेर, श्री श्वे. तेरापंथ परीक्षा बोर्ड, लाडनूं, श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर राजस्थान में जैनविद्या-शिक्षण के प्रमुख परीक्षा बोर्ड हैं। इनमें लगभग 50 हजार विद्यार्थी बैठते हैं। इनके अपने पाठ्यक्रम हैं। इस व्यापक व्यवस्था में वर्तमान में यदि मूल्यांकन एवं संशोधन किया जाये तो जैनविद्या के प्रारंभिक शिक्षण के लिये ये आधारभूत संस्थाएं हो सकती हैं। परीक्षा बोर्डों में राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर ने भी प्रकारान्तर से जैनविद्या के अध्ययन को गति देने लिये "प्राकृत भाषा एवं साहित्य" का पाठ्यक्रम सैकण्डरी कक्षाओं के लिये स्वीकृत किया है। 1980 में स्वीकृत प्राकृत के इस पाठ्यक्रम के अनुसार राजस्थान प्राकृत भारती जयपुर ने "प्राकृत काव्य-मंजरी" एवं "प्राकृत गद्य-सोपान" नामक पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। किन्तु अभी तक बोर्ड में प्राकृत का यह पाठ्यक्रम प्रारम्भ नहीं हो सका है। इसकी क्रियान्विति के लिये समाज के शिक्षा-प्रेमियों का सक्रिय होना आवश्यक है। उससे प्राकृत भाषा देश की अन्य भाषाओं के समान, बोर्ड में प्रतिष्ठित हो सकती है। प्राकृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिये "प्राकृत विकास मण्डल" सिरोही भी प्रयत्नशील है।

शोध-संस्थाएं : साहित्य-संरक्षण एवं प्रकाशन :

राजस्थान में वर्तमान में कई शोध-संस्थान जैनविद्या के अध्ययन के लिये कार्यरत हैं। बीकानेर में स्थित अभय जैन ग्रन्थालय की सेवाएं जैनविद्या के लिये महत्वपूर्ण रही हैं। शोध-छात्रों एवं विद्वानों ने इस ग्रन्थालय के जैन-साहित्य का उपयोग कर जैनविद्या पर अनुसन्धान कार्य किया है। जैन साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी यहाँ से प्रकाशित किये गये हैं। स्व. अगरचन्दजी नाहटा ने अपना समस्त जीवन जैनविद्या के अध्ययन और लेखन में व्यतीत कर एक आदर्श उपस्थित किया है। बीकानेर में ही श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया लायब्रेरी है। इसमें कई दुर्लभ ग्रन्थ संग्रहीत हैं। जैन आगमों के कुछ ग्रन्थों का यहाँ से प्रकाशन भी हुआ है। राजस्थान प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर का जैनविद्या के संरक्षण एवं प्रसार में उल्लेखनीय योगदान है। स्व. मुनि जिनविजयजी के निर्देशन में इस प्रतिष्ठान द्वारा हजारों जैनसाहित्य के ग्रन्थों की सुरक्षा की गई है। विभिन्न विद्वानों द्वारा जैन पाण्डुलिपियों का सम्पादन करा कर उन्हें प्रतिष्ठान से प्रकाशित कराया गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रोत्साहन से जैन विद्या के अध्ययन-अनुसंधान के लिए प्रतिष्ठान एक महत्वपूर्ण आधार साबित हो सकता है। जोधपुर में ही 'जिन आगम शोध-संस्थान' की स्थापना कुछ वर्ष पूर्व हुई है। इसके उद्देश्य बहु-आयामी हैं। कुछ साधन भी एकत्र हुए हैं। किन्तु जैन विद्वानों के सहयोग की महती आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। व्यवस्था का स्थायित्व ऐसे संस्थानों के लिये अपरिहार्य है, तभी विद्वानों का सहयोग उन्हें मिल सकता है।

राजस्थान के लाडनूं शहर में लगभग 35 वर्ष पूर्व पारमार्थिक शिक्षण संस्था स्थापित हुई थी। इस संस्था द्वारा दीक्षार्थियों को जैनविद्या का विधिवत् अध्ययन कराया जाता था। धीरे-धीरे विकास करती हुई यह संस्था अब "जैन विश्व भारती" का स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। इसमें ब्राह्मीविद्यापीठ, शोध-संस्थान, वर्धमान ग्रन्थालय, योग-साधना केन्द्र आदि संस्थाएं जैनविद्या के विभिन्न आयामों पर अध्ययन किया जाता है। यहां से "तुलसी प्रज्ञा" एवं "प्रेंक्ष्याध्यान" नामक पक्षिकाएं भी निकली हैं। जैनविश्व भारती के माध्यम से जैन आगमों का एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ है। जैनविद्या विश्व-कोष के प्रकाशन के लिये भी संस्था प्रयत्नशील है। जैनविद्या के अध्ययन एवं अनुसंधान की दिशा में राजस्थान की इस संस्था ने देश-विदेश में ख्याति प्राप्त की है। इसे मान्य विश्वविद्यालय की मानता भी 1991 में प्राप्त हुई है।

राजस्थान के प्राचीन जैनविद्या संस्थानों में श्री महावीर शोध-संस्थान, श्रीमहावीरजी का विशेष नाम है। इस संस्थान द्वारा महत्वपूर्ण कार्य यह किया गया है कि राजस्थान के दि. जैन ग्रन्थ-भंडारों में प्राप्त जैन-साहित्य की खोज-बीन करके महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों को कैटलॉग तैयार किया गया है, जो पांच भागों में संस्थान के द्वारा प्रकाशित भी हुआ है। इस संस्थान में हजारों पांडुलिपियों का सुरक्षित रखा गया है। उनमें से कुछ ग्रन्थों का सम्पादन करवा कर उन्हें प्राकशित भी किया गया है। यह संस्थान जैनविद्या के शिक्षण-कार्य में भी सहयोग प्रदान करता है। अभी 3-4 वर्ष पूर्व इस संस्थान को और अधिक विकसित करने के लिए श्रीमहावीरजी में महावीर जैनविद्या शोध संस्थान की स्वतन्त्र स्थापना भी की गई है, जिसमें आधुनिक ढंग से सम्पादन, प्रकाशन, शिक्षण आदि के कार्यों को प्रारम्भ किया गया है। इस संस्थान की संचालन व्यवस्था जयपुर में स्थित एक समिति के द्वारा होती है।

जयपुर की संस्थाएं : आधारभूत सामग्री

जैनविद्या के अध्ययन के लिये राजस्थान में जयपुर में कई संस्थाएं कार्यरत हैं। अपने सीमित साधनों द्वारा उनके द्वारा कुछ कार्य भी हुआ है। किन्तु आधुनिक साधनों और समर्पित विद्वानों की कमी के कारण ये संस्थाएँ वह कार्य नहीं कर सकीं, जिसकी आवश्यकता थी। जैन समाज के प्रायः सभी सम्प्रदायों के द्वारा जयपुर में कोई न कोई संस्था कार्यरत हैं। किन्तु जैनविद्यां के अध्ययन से सीधा सम्बन्ध बहुत कम संस्थाओं का है। यद्यपि जैन साहित्य की सुरक्षा में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान-भण्डार, लाल भवन एवं जैन श्वे, खरतरगच्छ संघ पुस्तकालय, जयपुर की प्रमुख संस्थाएं हैं, जिनमें जैनविद्या के अध्ययन के लिये कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं। सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर द्वारा "जिनवाणी" पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ जैनसाहित्य की कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा भी जैनविद्या के अध्ययन एवं शिक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। जैन-साहित्य के प्रकाशन के साथ-साथ इस संस्थान में जैन विद्वानों को तैयार करने का कार्य भी किया जाता है। यह अपने ढंग का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसी दिशा में महावीर साधना-केन्द्र, बापू नगर जयपुर भी प्रयत्नशील है। वहां विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली छात्रों को सब सुविधाएं देकर जैनविद्या में निष्णात किया जाता है। जयपुर में जैन विद्वानों को प्रोत्साहन देने का कार्य इसके पूर्व

जैन संस्कृत कालेज, मनिहारों का रास्ता, जयपुर द्वारा किया जाता रहा है। इस कॉलेज में जैन दर्शन एवं साहित्य के पठन-पाठन के साथ-साथ जैन विद्वानों को मार्ग दर्शन एवं सहयोग भी प्रदान किया गया है। स्व. पं. चैनसुखदास जी की सेवाएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

जयपुर में पिछले दशक में जैनविद्या के दो प्रमुख संस्थानों ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, मूलतः जैनविद्या एवं प्राकृत के ग्रन्थों की प्रकाशन संस्था है। किन्तु इस संस्थान के माध्यम से जैनविद्या और प्राकृत के अध्ययन को नई दिशा मिली है। आधुनिक शैली में इस संस्थान द्वारा जैन साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया है। थोड़े समय में ही संस्थान के प्रकाशनों ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। संस्थान का प्रयत्न है कि राजस्थान में प्राकृत अकादमी की स्थापना हो तथा उसके माध्यम से प्राकृत भाषा एवं साहित्य का विशेष अध्ययन गतिशील बनाया जाय। दूसरा संस्थान - श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर। इस अकादमी की स्थापना एवं विकास में डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल का प्रमुख योगदान है। इस संस्था का उद्देश्य है कि हिन्दी जैन कवियों की सम्पूर्ण कृतियों को 20 भागों में प्रकाशित किया जाय। अब तक दस भाग संस्थान ने प्रकाशित भी कर दिये हैं। इस साहित्य से हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्मूल्यांकन को बल मिलेगा एवं प्राचीन साहित्य सुरक्षित रह सकेगा। जयपुर में ही अ. भा. जैन विद्वत् परिषद् का प्रमुख कार्यालय है। इस परिषद् के माध्यम से जैन साहित्य एवं दर्शन को गोष्ठियां आयोजित होती हैं तथा जैनविद्या के अध्ययन करने वालों को अर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है। जैन पुस्तक प्रसार माला के अन्तर्गत 75 पुस्तिकाएं भी इस परिषद् ने प्रकाशित की हैं। 'अपभ्रंश अकादमी' की भी अच्छी प्रतिष्ठा है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन :

राजस्थान में जैनविद्या के अन्तर्गत आगमों पर विशेष कार्य हुआ है। ब्यावर में मुनि हजारीमल स्मृति प्रकाशन संस्था बहुत पहले से जैन साहित्य के प्रकाशन और अध्ययन का कार्य कर रही है। इसी संस्था के विद्वानों एवं कार्यकर्त्ताओं ने युवाचार्य श्री मधुकर मुनि के निर्देशन में आगम प्रकाशन समिति का शुभारम्भ किया। इस समिति ने थोड़े ही समय में 32 आगम हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशित कर दिये हैं। ब्यावर में ही श्री पन्नालाल ऐलक सरस्वती भवन का समृद्ध पुस्तकालय है, जिसमें महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का संग्रह है। आगमों के प्रकाशन में इस संस्था की भी योगदान रहा है। राजस्थान के साण्डेराव की आगम-अनुयोग प्रकाशन संस्था भी जैनविद्या के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। इस संस्था द्वारा जैन आगमों को सामग्री को विषयानुक्रम से पुनः मुद्रित किया गया है। गणितानुयोग, जैनागम-निर्देशिका एवं प्राकृत धर्मकथानुयोग आदि ग्रन्थ इस संस्था के उपयोगी प्रकाशन हैं। आगमों के प्रकाशन एवं प्रामाणिक संस्करण तैयार करने के लिये उदयपुर में 'आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान' की स्थापना हुई है। अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ बीकानेर के सहयोग से संचालित यह आगम-संस्थान विभिन्न पाठभेदों के साथ विस्तृत व्याख्या सहित आगमों का सम्पादन करना चाहता है। अभी आचारांग एवं भगवतीसूत्र पर कार्य प्रारम्भ किया गया है। प्राकृत प्रकीर्णक ग्रन्थों के अनुवाद एवं अन्य स्तरीय ग्रन्थों का प्रकाशन इस संस्थान से हुआ है। उदयपुर में ही श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय

एवं श्री अमर जैन साहित्य संस्थान के प्रमुख कार्यालय हैं। इन संस्थानों द्वारा जैन साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं। श्री अम्बा गुरु शोध संस्थान का प्रारम्भ भी उदयपुर में हुआ है। किन्तु इन संस्थानों में विद्वानों की कोई टीम कार्यरत नहीं है। केवल विद्वान मुनियों के साहित्य का प्रकाशन ही इनके द्वारा होता है। इसी नगर में 'प्राकृत-अध्ययन प्रसार संस्थान' भी संचालित है। प्राकृत एवं जैन दर्शन के क्षेत्र में विभिन्न शोध-योजनाएं इस संस्थान द्वारा प्रस्तावित हैं। "प्राकृतविद्या" नामक त्रैमासिक शोधपत्रिका भी विगत चार वर्षों से इस संस्थान द्वारा प्रकाशित की जा रही है।

विश्वविद्यालीय व्यवस्था : शिक्षण एवं अनुसंधान

जैन विद्या के अध्ययन को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने लिये एवं लौकिक पठन-पाठन में प्राकृत एवं जैनदर्शन के शिक्षण के लिये राजस्थान के विश्वविद्यालयों में भी जैनविद्या के स्वतंत्र विभाग स्थापित किये गये हैं। भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण-वर्ष के समय 1974-75 में राजस्थान सरकार एवं जैन समाज के सहयोग से राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर में "जैन-अध्ययन अनुशीलन केन्द्र" की स्थापना की गयी थी। यह शोध-केन्द्र इतिहास, दर्शन एवं संस्कृत विभागों में जैन विद्या के पाठ्यक्रम का शिक्षण एवं शोध-कार्य सम्पन्न कराता है। जैनविद्या सम्बन्धी एम. फिल. एवं पी-एच. डी. के विद्यार्थी इस केन्द्र से निर्देशन प्राप्त करते हैं। इस केन्द्र द्वारा कुछ व्याख्यानमालाएं एवं संगोष्ठियां भी सम्पन्न करायी गयी हैं। नागौर के जैन ग्रन्थ-भण्डार का सर्वेक्षण कार्य भी प्रकाशन भी किया है। जैनविद्या के विभिन्न आयामों के प्रचार-प्रसार के लिये यह केन्द्र प्रयत्नशील है।

उदयपुर के सुखाड़िया विश्वविद्यालय में 1971 से प्राकृत भाषा व साहित्य का शिक्षण संस्कृत विभाग के अंतर्गत होता रहा है। इस विभाग द्वारा जैनविद्या पर अ.भा. स्तर की दो संगोष्ठियां भी आयोजित की गयीं. उनके निबन्धों का प्रकाशन भी किया गया है। इसकी प्रगति को देखते हुए 1978 में अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर एवं राज्य सरकार के सहयोग से इस विश्वविद्यालय में "जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग" की स्वतंत्र रूप से स्थापना की. गयी। तब से यह विभाग बी. ए. एवं एम. ए. स्तर पर प्राकृत भाषा व साहित्य का शिक्षण-कार्य सम्पन्न कर रहा है। प्राकृत एवं जैनविद्या में डिप्लोमा एवं सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम भी इस विभाग द्वारा चलाये जा रहे हैं। प्राकृत साहित्य एवं आगम ग्रन्थों पर शोधकार्य भी सम्पन्न हो रहा है। इस विभाग द्वारा देश में पहली बार एम. ए. प्राकृत में पाण्डुलिपि विज्ञान का प्रशिक्षण एक प्रश्न-पत्र के रूप में छात्रों को कराया जा रहा है। प्राकृत-शिक्षण की नयी विधि इस विभाग में प्रयोग के रूप प्रारम्भ की गयी, जिसका अच्छा परिणाम रहा है। राष्ट्र भाषा के माध्यम से प्राकृत-शिक्षण को सरल बना दिया गया है। विभाग में एक समृद्ध पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गयी है, जिसमें समाज के सभी वर्गों का अनुदान प्राप्त है। इस जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग में अ.भा. जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा, कोटा के द्वारा प्रदत्त् अनुदान से 'अपभ्रंश-अनुसन्धान योजना' भी प्रारम्भ की गयी है। राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डारों का सर्वेक्षण एवं पाण्डुलिपि-सम्पादन के कार्य को प्रधानता देना इस विभाग का प्रमुख उद्देश्य है। किन्तु उसके पूर्व यह विभाग प्राकृत एवं जैनविद्या के जानकार कुछ विद्वान् तैयार करने में संलग्न हैं, जो जैनविद्या के क्षेत्र की प्राथमिक

आवश्यकता है।

राजस्थान में जैनविद्या के अध्ययन का यह स्थूल सर्वेक्षण है। इसके अतिरिक्त भी कुछ संस्थाएं इस दिशा में संलग्न हो सकती हैं। जिनका उल्लेख यहाँ छूट गया हो सकता है। कुछ व्यक्तिगत रूप से भी जैनविद्या के अध्ययन प्रस्तुत किये जा रहे हैं उन सबका यहां उल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है। भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण वर्ष में एवं उसके बाद भी जैन मुनियों एवं विद्वानों की कई पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं। आदर्श साहित्य संघ चूरू ने जैनविद्या की कई आधुनिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सामान्य पाठक के लिये जैन साहित्य और परम्परा की परिचायक जैन कथाएं कई भागों में प्रकाशित हुई हैं। विभिन्न पाठ्यक्रमों की पाठ्य–पुस्तकें छपी हैं। आचारांगचयनिका, समणसुत्त-चयनिका आदि पुस्तकों द्वारा जैनविद्या के महत्वपूर्ण ग्रन्थों को जन-सुलभ बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अभिनन्दन, स्मृति-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। स्मारिकाएं, विशेषांक निकाले गये हैं। किन्तु यह सब साहित्य जहाँ पहुँचना चाहिए था, वहां पहुंचा नहीं है। भारतीय साहित्य के परिपेक्ष्य में उसका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। वह केवल सम्प्रदाय विशेष का साहित्य होकर सीमित रह गया है।

अपेक्षाएं : पुनर्मूल्यांकन एवं सम्मिलित प्रयास

राजस्थान में जैनविद्या के अध्ययन की गौरवपूर्ण परम्परा को ध्यान में रखते हुए और वर्तमान की आवश्यकताओं की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि जैनविद्या सम्बन्धी सभी संस्थाओं के उद्देश्य एवं कार्य-पद्धतियों का पुनर्मूल्यांकन किया जाय। इससे समाज के साधनों का सही उपयोग हो सकेगा। प्रकाशनों में पुनरावृत्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से निम्नांकित प्रमुख विन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित :—

1. जैन समाज द्वारा संचालित परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों को सर्वांगीण बनाना आवश्यक है तथा उसके अनुसार आधुनिक शैली में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जानी चाहिए।
2. राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर के माध्यम से पूरे प्रदेश में प्राकृत-शिक्षण को गतिशील बनाया जा सकता है। कोई भी स्वयसेवी संस्था इसे अपने जीवन का मिशन बनाये तभी यह कार्य सम्भव होगा।
3. शोध-संस्थानों में साहित्य-संरक्षण के साथ-साथ जैनविद्या के युवा विद्वानों को भी संरक्षण मिलना चाहिए। वर्ष, दो वर्ष के प्रशिक्षण के उपरान्त उन्हें विश्वविद्यालय वेतनमान में रखकर जैनविद्या के कार्य में संलग्न किया जाना चाहिए। क्योंकि विद्वानों के अभाव में तैयार किये शोध-संस्थानों के उद्देश्य पूरे नहीं हो सकते।
4. प्रकाशन के क्षेत्र में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। समाज की आवश्यकता की दृष्टि से ही सरल भाषा में साहित्य का प्रकाशन होना चाहिए। प्राचीन साहित्य के सम्पादित ग्रन्थों को प्राथमिकता देने से पाण्डुलिपियों की सुरक्षा हो सकेगी। इसके लिये पुरानी पीढ़ी के विद्वानों को पूरी सुविधा प्रदान कर उनसे ग्रन्थ सम्पादित

करायें जायें एवं उन्हें पुरस्कृत किया जाय।

5. ग्रन्थ-भण्डारों के संवेंक्षण के कार्य को प्राथमिकता दी जाय तभी पुराना साहित्य नष्ट होने से बच पायेगा और जैन साहित्य को पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल सकेगी।

6. विश्वविद्यालयों के जैनविद्या विभागों द्वारा पूरे राजस्थान के कालेजों में प्राकृत-शिक्षण को प्रभावशाली बनाया जाय। राजस्थान विश्वविद्यालय के जैन अध्ययन अनुशीलन शोध केन्द्र की इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। जोधपुर विश्वविद्यालय में भी जैनविद्या का एक स्वतन्त्र विभाग स्थापित हो, जिसमें जैन संस्कृत साहित्य और जैनदर्शन के अध्ययन को गति दी जाय। यहाँ यद्यपि एम.ए. संस्कृत में जैनदर्शन एवं प्राकृत ग्रुप, तथा प्राकृत एवं जैनविद्या का बी.ए. आनर्स पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया है। सेवामंदिर, रावटी संस्थान का इस दिशा में प्रयत्न सराहनीय है।

7. जैनविद्या के अध्ययन के विकास के लिये राज्य में **राजस्थान प्राकृत अकादमी** की स्थापना का प्रयत्न होना चाहिए, जिसके माध्यम से पूरे प्रदेश में जैनविद्या के अध्ययन, अनुसंन्धान, प्रकाशन एवं शिक्षण को गतिशील बनाया जा सके।

इन सब कार्यों के लिये जैन विद्वान, समाज एवं सरकार के सम्मिलित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। पहल किसी भी एक पक्ष से हो सकती है।

❑❑❑

त्रयोदश

संस्कृत के जैन काव्यों का मूल्यांकन

संस्कृत भाषा में प्राचीन समय से काव्य लिखे जा रहे हैं। जैन आचार्यों ने भी अनेक काव्य लिखकर संस्कृत साहित्य की समृद्धि में अपना योगदान किया है। विक्रम की दूसरी शताब्दी से वर्तमान युग तक जैन कवियों द्वारा संस्कृत काव्य लिखे जा रहे हैं। डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपनी एक पुस्तक में संस्कृत के जैन कवियों के योगदान का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। अन्य विद्वान भी इस दिशा में कार्यरत हैं। वर्तमान युग में विद्वत् जगत् में संस्कृत काव्यों के पठन-पाठन की जो परम्परा प्रचलित है, उसमें संस्कृत के जैन काव्यों का अध्ययन प्रायः नहीं के बराबर होता है। इसके पीछे कई कारण रहे हैं। प्रमुख कारण यह है कि संस्कृत के जैन काव्य पूरी तरह अभी प्रकाश में नहीं आये हैं। जो प्रकाशित हैं, वे सहजता से उपलब्ध नहीं है। अतः इस महत्वपूर्ण साहित्य को विद्वानों तक पहुँचाने की प्रक्रिया होनी चाहिए। तभी इन काव्यों का सचमुच मूल्यांकन हो सकेगा। प्रस्तुत निबन्ध में कुछ प्रमुख जैन काव्यों की कतिपय विशेषताओं को वर्तमान साहित्य के सन्दर्भ में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के जैन काव्यों में नायक अथवा आराध्य का चुनाव प्रायः गुणों के आधार पर किया गया है, किसी व्यक्तिगत पक्षपात या चापलूसी के निमित्त नहीं। संस्कृत के प्राचीन कवि सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी द्वात्रिंशिका में काव्यरचना का हेतु कहा है - "मैं न अपनी काव्य शक्ति के प्रदर्शन के लिये और न दूसरों से ईर्ष्यावश, न महावीर की कीर्ति के विस्तार के लिए और न ही किसी की श्रद्धा से काव्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। अपितु हे प्रभु, आप गुणज्ञ व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं, इसीलिए आपके प्रति मेरा आदर है। इस कारण से आपको मैंने काव्य का विषय बनाया है।

न काव्याशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न
वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे
गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादर :॥

–प्रथम द्वात्रिंशिका

इन काव्यों में केवल शब्द चमत्कार या पांडित्यप्रदर्शन नहीं है। अपितु

भाव-सम्प्रेषण की सहजता सर्वत्र व्याप्त है। संस्कृत के ये काव्य वर्तमान युग के साहित्य को विभिन्न प्रेरणाएं देने मे समर्थ नहीं हैं, अपितु वे काव्य के मार्ग को भी प्रशस्त करते हैं। 13 वीं शताब्दी के महाकवि अभयदेव ने अपने जयन्तविजय नामक महाकाव्य में श्रेष्ठ काव्य को परिभाषित कर कहा है कि जिस प्रकार एक चन्दन वृक्ष की गन्ध के सम्पर्क से समस्त वन के वृक्ष चन्दन सुगन्ध से व्याप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सफल काव्य वही है, जिसकी सुधामयी उक्तियां अज्ञानी कवियों को भी कवि बनाने में समर्थ हों --

जयन्ति ते सत्कवयो युदुक्त्या,
बाला अपिस्युः कविताप्रवीणाः ।
श्रीखण्डवासेन कृताधिवासाः
श्रीखण्डतांयान्त्यपरेऽपि वृक्षा ॥

– ज. वि. 1/17

संस्कृत के जैन काव्यों में काव्यरस की पर्याप्त अभिव्यक्ति हुई है। भौतिक जगत् और लौकिक भावों का विस्तार से वर्णन हुआ है। यह सब सौन्दर्य की शास्वत अनुभूति के लिए किया गया है। किन्तु इस सब प्रयत्न से भी पात्रों के मन की शान्ति अतृप्त ही रही तब जैन कवियों ने कथानक को नया मोड़ देकर आध्यत्मिक मूल्यों की ओर अपने पात्रों को प्रवृत्त किया है, जहां वे जीवन के शाश्वत मूल्यों की उपलब्धि कर सके हैं। इस दृष्टि से संस्कृत के जैन ग्रन्थ काव्य के चरम लक्ष्य के अधिक निकट हैं। वे केवल भौतिक स्थूल वर्णनों में खोकर नहीं रह गये हैं। उनकी यह प्रवृत्ति वर्तमान साहित्य के लिए एक आदर्श उपस्थित करती है।

जैन कवियों ने यद्यपि काव्यजगत् की प्रायः सभी रूढ़ियों का उपयोग किया है, किन्तु इन कवियों की स्वानुभूति निराली है। उन्होंने कई नये बिम्ब काव्य जगत् में स्थापित किये हैं। 10वीं शताब्दी के महाकवि वीरनन्दि ने अपने चन्द्रप्रभचरितं में साधनहीन व्यक्ति का शीतकाल कैसे व्यतीत होता है इसका एक रूपक बांधा है। कवि कहता है कि अटवी में अजगरों की सांस से गर्म होकर चारों ओर फैली हुई वायु से पर्वतों पर चढ़े हुये बन्दरों का जाड़ा दूर हो जाया करता है और वे शीतकाल को सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं --

सततप्रसूतैरपोढशीताः शयुनि :
श्वासचयोष्णितैर्मरुभिद :।
गमयन्ति महीधराधिरूढा
शिशुरर्तुप्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥

--च. प्र. 6/10

वीरनन्दि कवि की स्वाभावोक्तियां भी अति सटीक हैं। कवि लक्ष्मी की स्वभाविक चंचलता का वर्णन करते हुए कहता है कि लक्ष्मी रात्रि में चन्द्रमा के पास और दिन में कमल पास पहुँच जाती है। किन्तु यह लक्ष्मी (शोभा) चंचल होने पर भी नायक (राजकुमार श्रीवर्मा) के शरीर को छोड़ने में समर्थ नहीं हुई। (क्योंकि उसमें चन्द्रमा और कमल दोनों के गुण थे)--

तुषाररश्मिं भजते निशायां
दिनागमं याति सरोजषण्डम्।
इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मी
रियेष मोक्तुं न तनुं तदीयाम्॥

–च. प्र. 4\6

संस्कृत के जैन काव्यों का चरम लक्ष्य भले ही आत्मोपलब्धि रहा हो, किन्तु उनमें लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गयी है। भट्टारक वर्धमान कवि ने अपने वरांगचरितं में कर्तव्यबुद्धि, गुरु-विनय, मित्र-बन्धुस्नेह, दीन अनाथों के प्रति करुणाभाव, शत्रुओं के मध्य प्रताप-प्रदर्शन को लौकिक जीवन में आवश्यक माना है।

–व.च. 3\43

मैत्रीभाव का मूल्यांकन करता हुआ कवि कहता है कि -- मित्रता से लोक अनुकूल होता है, पृथ्वी साध्य होती है, शत्रु आधीन होते हैं, सभी बन्धु-बान्धवों में स्नेह बना रहता है और स्वजनों के बीच लक्ष्मी स्थिर होती है --

लोकोऽनुकूलो धरणी सुसाध्या
मैत्रयाच वश्यारिपवो भवन्ति।
सद्वांधवा स्नेहपरा नराणां
लक्ष्मी : स्थिरा बन्धुजनेषु सत्सु॥

– व.च. 2\19

जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता को भी जैन कवियों ने स्वीकारा है। पर इस धन का अर्जन न्याय के अनुसार होना चाहिए --

न्यायापात्तप्रकट विभवाः साधयन्ति त्रिवर्गं

– व.च. 2\68

जीवन-व्यापार को दो शब्दों में प्रकट करते हुए कवि ने कहा है - विपत्तिकाल में धीरज, संघर्ष की युद्धभूमि में साहस, दान देते समय उदारता और ध्यान में विवेक रखना जीवन के आवाश्यक कर्त्तव्य हैं--

धैर्यं विपदि कर्त्तव्यं साहसं समरांगणे।
औदार्यं दानकाले च ध्याने सग्ज्ञानमुत्तमैः॥

– व.च. 7\78

इन जैन कवियों ने जीवन के यथार्थ को बहुत नजदीक से देखा है। बाल्य अवस्था, यौवन अवस्था एवं वृद्धावस्था को चित्रित करने वाले अनेक दृश्य संस्कृत काव्य में हैं। किन्तु 10वीं शताब्दी के महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में वृद्धावस्था का जो रूपक प्रस्तुत किया है वह हृदयग्राही है। कवि कहता है कि -- 'जो बिना पहिने ही शरीर को

अलंकृत करने वाला आभूषण था, वह मेरा यौवनरूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानों उसे खोजने के लिए वृद्ध मनुष्य ऊपर के शरीर को झुकाकर नीचे देखता हुआ जमीन पर भ्रमण करता है--

असंभृत मण्डनमंनायष्टे-
र्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतम्।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः
पश्यन्नवोऽधो भुवि बभ्रमीति॥

– ध.श. 4\59

संस्कृत के जैन महाकवियों ने अपने काव्यों में अनेक आदर्श उपस्थित किये हैं। उन्होंने एक अच्छे समाज के कई दृश्य उपस्थित किये हैं। महाकवि असग के वर्धमानचरित में राजा-रानियों के अतिरिक्त साधारण गृहस्थों के दाम्पत्य-जीवन का स्वाभाविक वर्णन है (3/ 91, 5/15 आदि)। वादिराज के पार्श्वनाथचरित में दाम्पत्य के खट्टे-मीठे अनुभवों का चित्रण हैं (2 / 26)। वस्तुपाल के नरनारायणान्द महाकाव्य में सुभद्रा और अर्जुन के गृहस्थ जीवन की प्रेरणास्पद झांकी है (15 वां सर्ग)। इसी प्रकार इन काव्यों में माता-पिता के साथ सन्तान का सम्बन्ध (प्रद्युम्नचरित 5/11), सन्तान के गुण, भाई-भाई का सम्बन्ध (शत्रुंजयकाव्य 2/432-33), भाई-बहन का स्नेह (यशोधरचरित 4 था सर्ग) आदि पारवारिक प्रमुख सम्बन्धों का विवेचन है। बालक के संस्कारों का निर्माण और जीवन के विकास के सम्बन्ध में भी अनेक तथ्य इन जैन काव्यों में प्राप्त हैं, जो वर्तमान युग के साहित्य के लिये एक आधारभूमि प्रदान करते हैं। वर्तमान युग की सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था के लिए भी संस्कृत के मूर्धन्य महाकवि वादीभसिंह ने अपनी क्षत्रचूडामणि की एक पंक्ति में बड़ी सटीक बात कही है - कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की जानकारी और तदनुसार आचरण यदि प्राप्त नहीं हुआ तो शिक्षा प्राप्त करने में किया गया परिश्रम व्यर्थ है-

हेयोपादेयविज्ञानं नोचोद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ।

- क्ष. चू. 2/44

ऐसी अनेक सूक्तियाँ संस्कृत के जैन काव्यों में उपलब्ध हैं। वस्तुतः ये रचनाएं नीति और काव्य के समन्वयी ग्रन्थ हैं।

वि. सं. 1312-15 में देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। ऐसी नाजुक स्थिति में देश के शासकों के पास भी अन्न का अभाव हो गया था। तब समाज के व्यापारियों एवं श्रेष्ठियों ने जनता की मदद की थी। उनमें गुजरात के जगडूशाह प्रसिद्ध थे। उन्होंने अकाल के समय में गुजरात, मालवा सिन्ध, दिल्ली और काशी के नरेशों को प्रजा-पालन के लिए अनाज उपलब्ध कराया था। ऐसे प्रजा-वत्सल श्रेष्ठियों को नायक बनाकर जैन कवियों ने अपने संस्कृत काव्य लिखे हैं। कवि सर्वानन्द का जगडूचरित आज के साहित्य के लिये एक दीपस्तम्भ की तरह हैं। साहित्य का यह प्रमुख कार्य है कि वह उदात्तचरित्र वाले ऐसे नायकों को अपने काव्य का विषय बनाये जिनका जीवन जनहित के लिए समर्पित हो, न कि स्वार्थपूर्ति के लिए।

संस्कृत के इन जैन काव्यों में वर्णित अन्य विस्तार को छोड़ भी दें तो संक्षेप में दो जीवन मूल्य वर्तमान सन्दर्भ में बहुत उपयोगी हैं। वे दोनों ही दो महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित हैं, जो इन काव्यों के कथानायक हैं। भरत-बाहुबली महाकाव्य का प्रकाशन जैन विश्व भारती, लाडनूँ से हुआ है। इस काव्य में बाहुबली ने भरत के समक्ष जो अहिंसक-संधि का प्रस्ताव रखा है, वह इस विश्व की प्रथम अहिंसक सन्धि है। इसमें जन-समुदाय के जीवन को, मानव के जीने के अधिकार को प्रथम मूल्य प्रदान किया गया है। व्यक्तिगत स्वार्थ राज्य लिप्सा को प्रमुखता नहीं दी गयी।

इसी प्रकार नेमिनिर्वाणकाव्य में नेमिनाथ ने अपने विवाह में पशुओं को अभय प्रदान करके देश के पशुधन की सुरक्षा में पहला दीपक जलाया है। मूक पशुओं की जीवन रक्षा में उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन के तमाम सुख भेंट कर दिये हैं। बाहुबली के द्वारा स्थापित मानवरक्षा और नेमिनाथ के द्वारा प्रवर्तित पशुधन रक्षा इन दो मूल्यों को ही यदि आज का साहित्य अपना ले तो प्राचीन संस्कृत साहित्य की विरासत का वह सच्चा हकदार बन जायेगा।

संस्कृत के जैन काव्यों में अधिकांश काव्यों की रचना किसी राजा, मन्त्री, गुरु अथवा श्रद्धालु श्रावक की प्रेरणाओं से की गयी है। अमरचन्द्रसूरि, उदयप्रभसूरि, माणिक्यचन्दसूरि, नयचन्द्रसूरि आदि कवियों को राजाश्रय भी प्राप्त था। किन्तु इन कवियों ने अपने काव्य का नायक उन्हीं व्यक्तियों को बनाया है, जिन्होंने तन-मन-धन से लोकहित का कार्य किया हैं। कुमारपाल, वस्तुपाल जगडूशाह आदि ऐसे ही चरित नायक हैं। इनके आदर्श गुणों को प्रचारित करने के लिए इन कवियों ने काव्य लिखे हैं। डा. श्यामशंकर दीक्षित ने इन कवियों का मूल्यांकन करते समय ठीक ही कहा है कि इन कवियों द्वारा किये गये प्रशस्तिगान में न तो कहीं चाटुकारिता की प्रवृत्ति पायी जाती है और न मिथ्या यश-वर्णन करने की प्रवृत्ति।

वर्तमान साहित्य के सन्दर्भ में जैन काव्यों की इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति पर चिन्तन करना आवश्यक है। पहले के समाज में कुछ ऐसे साहित्य-प्रिय कवि-वत्सल लोग थे, जो कवियों की प्रतिभा का आदर करते हुए उन से काव्य लिखवा लेते थे। आज ऐसे काव्य-प्रेमियों का प्रायः अभाव सा है। भौतिकवाद की दौड़ ने शासक, श्रेष्ठि अथवा संघ-प्रमुखों के रसिकहृदय को या तो सोख लिया है या उसको विकृत कर दिया है। इसके लिए समाज के कर्णधारों को पुनः आत्मलोचन करना होगा तब वे साहित्य के प्रचार-प्रसार में समभागी बन सकेगें।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी चिन्तन करने की है कि वर्तमान साहित्य का आदर्श नायक अथवा पात्र अब कौन रहा गया ? काव्य में वर्णित उसके गुण किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं? ऐसा लगता है कि पहले के कवि आसानी से समाज में से किसी भी गुणी और कर्त्तव्यनिष्ठ, लोकहितकारी पात्र अथवा नायक का चयन कर लेते थे। क्योंकि तब समाज में ऐसे लोग थे। वर्तमान में साहित्यकार इस दुविधा में है कि अपने काव्य का नायक कहां से लाये? उस सात्विक वातावरण को कहां खोजें, जिसमें उसका काव्य विस्तार पा सके। शायद यही कारण है कि आज अच्छा साहित्य किसी भी भाषा में प्रायः लुप्त हो गया है। इस सांस्कृतिक ह्रास के प्रति समाज और कवि दोनों को सचेत होना पड़ेगा। तभी प्राचीन संस्कृत साहित्य की गरिमा का अनुभव किया जा सकेगा।

सन्दर्भ

1. शास्त्री, नेमीचन्द्र, संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली ।
2. दीक्षित, श्यामशंकर दीक्षित, 13वीं-14वीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य ।
3. प्रथम द्वात्रिंशिका (सिद्धसेन) अनेकान्त 9/11
4. चन्द्रप्रभचरितम् (वीरनन्दि) निर्णय सागर प्रेस
5. पार्श्वनाथचरितम् (वादिराज) माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला
6. वरांगचरितम् (वर्धमानकवि), सोलापुर
7. धर्मशर्माभ्युदयम् (हरिचन्द्र), निर्णयसागर प्रेस
8. जयन्तविजयम् (वर्धमानसूरि), निर्णयसागर प्रेस
9. नरनारायणानन्दमहाकाव्य (वस्तुपाल), बड़ौदा
10. जगडूचरित (सर्वानन्द), आत्मानन्दसभा, अम्बाला सिटी
11. छत्रचूडामणि (वादीभसिंह), तंजोर
12. यशोधरचरितम् (वादिराज), धारवाड
13. महाकवि हरिचन्द्र –एक अध्ययन, प. पन्नालाल साहित्याचार्य, दिल्ली
14. गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी
15. भरत-बाहुबली महाकाव्य, सं. मुनि दुलहराज, लाडनूं
16. नेमिनिर्वाण काव्य, (वाग्भट), निर्णय सागर प्रेस

❑❑❑

चतुर्दश

पश्चिमी भारत का जैन संस्कृत साहित्य

संस्कृत जैन साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि

यद्यपि जैन आगमों की भाषा अर्द्धगामी एवं शोरसेनी प्राकृत तथा आगमोत्तर साहित्य की अधिकांश रचनाएं भी प्राकृत में लिखी गई हैं। किन्तु जनसमुदाय की रूचि के प्रति जैन आचार्यों की जागरूकता के कारण संस्कृत भाषा को भी वही प्रतिष्ठा दी गयी है जो प्राकृत व अपभ्रंश को। जिस समय से समाज में वैदिक एवं बौद्ध साहित्य का प्रभाव अधिक बढ़ा उसी समय से जैन साहित्य में भी संस्कृत को स्थान मिलने लगा। धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में तर्क-पद्धति के विकास के कारण तथा वैदिक व बौद्ध आचार्यों से वाद-विवाद करने की दृष्टि से जैन आचार्यों ने संस्कृत को अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया। यह प्रवृत्ति ईसा की दूसरी सदी से अधिक पायी जाती है। पश्चिमी भारत में जैन विद्वानों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एवं हरिभद्र के संस्कृत ग्रन्थ इस प्रवृत्ति के परिणाम कहे जा सकते हैं।

8वीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारत में लिखित जैन संस्कृत ग्रन्थों की रचना की पृष्ठभूमि में यहाँ की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति अधिक प्रभावशाली रही है सामान्यतया जैनाचार्यों ने जिन प्रेरक तत्त्वों के कारण जैन संस्कृत साहित्य का निर्माण किया है, उनमें प्रमुख हैं - (1) जैन-धर्म के सिद्धान्तों के प्रसार की भावना, (2) प्रभावशाली राजा, राजमन्त्री, गुरु अथवा श्रावकों की प्रार्थना, (3) धार्मिक महापुरुषों का यशोगान। इनके अतिरिक्त एक कारण यह भी दृष्टिगत होता है कि बहुत से आचार्य मूलतः ब्राह्मण थे। संस्कृत का अध्ययन वे बचपन से ही कर चुके थे अतः अपने ज्ञान एवं प्रतिभा के विकास के लिए भी उन्होंने जैन संस्कृत साहित्य के निर्माण को माध्यम चुना होगा।

प्रचार-प्रसार के साधन :

पश्चिमी भारत में संस्कृत साहित्य के प्रचार-प्रसार में जैन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने केवल संस्कृत में जैन साहित्य में जैन ग्रन्थ ही नहीं लिखे, अपितु उनके प्रचार एवं प्रसार व सुरक्षा की पृष्ठभूमि भी तैयार की है। जिस प्रकार राजस्थान के राजाओं द्वारा राज्य के ग्रन्थ-भण्डारों (पोथी खाना) को साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बना दिया गया था, उसी प्रकार जैन आचार्यों ने भी मन्दिरों व उपासरों में जैन ग्रन्थ-भण्डारों की

स्थापना कर उन्हें संस्कृत शिक्षा व लेखन का केन्द्र बना दिया था। इन ग्रन्थ-भण्डारों में नये ग्रन्थ लिखे जाते थे, पुराने ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार की जाती थीं तथा दूर-दूर से महत्वपूर्ण ग्रन्थों को लाकर पुस्तकालय को विकसित किया जाता था ताकि लेखकों को एक ही स्थान पर संदर्भ ग्रन्थ उपलब्ध हो जायें। इस प्रकार पश्चिमी भारत का जैन संस्कृत साहित्य इन ग्रन्थ-भण्डारों की समुचित सुविधाओं का ही परिणाम है।

जनसमुदाय में संस्कृत भाषा के प्रसार के लिए जैनाचार्यों ने इन ग्रन्थ-भण्डारों में शिक्षा केन्द्र खोल दिये थे, जिनमें बच्चों को प्रारम्भ से ही संस्कृत और प्राकृत पढ़ाई जाती थी। संस्कृत के अध्ययन में जैन-अजैन की रचनाओं का भेद नहीं किया जाता था। इस क्षेत्र में हेमचन्द्र, भट्टारक शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र, ज्ञानभूषण आदि आचार्यों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इनके सान्निध्य में सौ-सौ छात्र रह कर संस्कृत सीखते थे। संस्कृत शिक्षा के प्रचार में उन श्रावकों का योगदान भी सराहनीय है जो आचार्यों और शिष्यों को सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपि करा कर भेंट करते थे ताकि उनका अध्ययन निर्विघ्न सम्पन्न हो सके।[1]

जैन संस्कृत साहित्य के निर्माण एवं प्रसार में पश्चिमी भारत के राजाओं व राज्य मन्त्रियों का संरक्षण भी एक प्रमुख कारण रहा है। गुजरात के तो अनेक राजाओं व मन्त्रियों ने जैनाचार्यों के ग्रन्थ-निर्माण के लिए सुविधाएं ही नहीं बल्कि प्रेरणा भी दी है। सिद्धराज, कुमारपाल, वस्तुपाल आदि के नाम इस क्षेत्र में स्मरणीय रहेंगे। जैन संस्कृत साहित्य का विकास समय-समय पर आयोजित शास्त्रार्थ के कार्यक्रमों के कारण भी हुआ है, जिसमें अजैन, दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी संस्कृत के आचार्य सम्मिलित होते थे। पश्चिमी भारत के कई जैनाचार्यों ने वाद-विवादों में विजयी होने के लिए अनेक चमत्कारिक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है। महाकवि समयसुन्दर का 'अष्टलक्षी' नामक ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है।

क्रमिक विकास :

जैन संस्कृत साहित्य के लेखन का प्रारम्भ आचार्य उमास्वाति के 'तत्वार्थसूत्र' से होता है, जिस पर आगे चलकर संस्कृत में बृहत्काय टीकाएं लिखी गई हैं।[2] किन्तु पश्चिमी भारत में जैन संस्कृत साहित्य का लेखन कब से प्रारम्भ हुआ ? सर्वप्रथम संस्कृत रचना कौनसी है ? यह कहना कठिन है। क्योंकि बहुत कम प्राचीन सूचनाओं में उनके रचना-स्थल आदि का उल्लेख मिलता है। दूसरे पश्चिमी भारत के जैन सन्त गुजरात, राजस्थान, मालवा आदि स्थानों में भ्रमण करते रहते थे। अतः उन्होंने कहाँ पर रह कर ग्रन्थ रचना की इसका पता अन्य स्रोतों से लगाना पड़ता है। ऐतिहासिक सामग्री से ज्ञात होता है कि चित्तौड़ अनेक जैन आचार्यों का कार्यक्षेत्र रहा है।[3] उनमें से 5वीं सदी के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर संस्कृत के प्राचीन लेखक कहे जा सकते हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने जैन न्याय पर 'न्यायावतार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके बाद आठवीं सदी के आचार्य हरिभद्र के पूर्व तक पश्चिमी भारत में जैन संस्कृत साहित्य का कोई ग्रन्थ लिखा गया हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। आठवीं सदी के बाद प्रचुर मात्रा में जैनाचार्यों के द्वारा संस्कृत के ग्रन्थ लिखे गये हैं।[4]

आचार्य हरिभद्र चित्तौड़ के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। आपने लगभग सौ

ग्रन्थों की रचना की है।[5] जिममें 'पट्दर्शनसमुच्चय', 'अनेकान्तजयपताका', 'अष्टक-प्रकरण' आदि प्रमुख संस्कृत ग्रन्थ हैं। जैन संस्कृत साहित्य के इतिहास में आचार्य हरिभद्र प्रथम लेखक हैं जिन्होंने जैनागमों एवं पूर्वाचार्यों की प्रसिद्ध कृतियों पर संस्कृत में टीकाएं लिखने का सूत्रपात किया है। आचार्य हरिभद्र की परम्परा को दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध (सं. 962) में श्रीमाल नगर (भीनमाल) के निवासी आचार्य सिद्धर्षि ने आगे बढ़ाया है। आपकी 'उपमितिभवप्रपंचकथा' भारतीय संस्कृत साहित्य की अनुपम कृति है। सिद्धर्षिरचित 'श्रीचन्द्रकेवलीचरित', 'उपदेशमालाटीका' और 'न्यायावतारविवृत्ति' आदि अन्य रचनाएं भी प्राप्त हैं।

ग्यारहवीं सदी में राजस्थान में खरतरगच्छ के आचार्यों का प्राधान्य शुरू हो जाता है। जिनेश्वरसूरि (सं. 1080) और बुद्धिसागरसूरि ने मौलिक संस्कृत ग्रन्थों के निर्माण को आगे बढ़ाया। बुद्धिसागर ने 'पंचग्रन्थवृत्ति' नामक जैनन्याय का ग्रन्थ लिखा। इस गच्छ के अन्य आचार्यों में जिनवल्लभसुरि का 'श्रृंगारशतक'[6] एवं 'प्रश्नोत्तरगटीशतक' तथा जिनदत्तसूरि की संस्कृत रचनाएं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन सभी आचार्यों ने प्राकृत में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। बारहवीं सदी के विद्वानों में वादिदेवसूरि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका 'स्वाद्वादरत्नाकर' जैनन्याय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ये वाद-विवाद करने में भी कुशल थे।

तेरहवीं सदी के विद्वानों में जिनपालसूरि (सं. 1214-77) विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि इन्होंने 6 शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी। इन्होंने संस्कृत टीकाएं तथा स्तोत्र लिखे हैं। इनके शिष्यों में जिलपाल, सुमतिगणि, पूर्णभद्र एवं जिनेश्वरसूरि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जिनपाल उपाध्याय का 'सनत्कुमार महाकाव्य' तथा पूर्णभद्र का 'धन्यशालिभद्रचरित' उत्कृष्ट काव्यात्मक कृतियां हैं। इसी समय दिगम्बर आचार्य आशाधर ने अनगार एवं सागारधर्मामृत तथा वाग्भट्ट ने 'नेमिनिर्वाण', 'काव्यानुशासन' आदि रचनाओं द्वारा संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। 14वीं सदी में जैन विद्वानों के द्वारा संस्कृत के महाकाव्य अधिक लिखे गये तथा प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएं भी की गई। लक्ष्मीतिलक (सं. 1311) का 'प्रत्येकबुद्धचरित', चन्द्रतिलक का (सं. 1312) 'अभयकुमारचरित', विवेकसमुद्र (1334) का 'नरवर्मचरित' एवं 'पुण्यसागरकथा' तथा जिनप्रभसूरि का 'श्रेणिकचरित' आदि इस युग की प्रसिद्ध संस्कृत रचनाएं कही जा सकती हैं। लगभग इसी समय नयचन्द्रसूरि ने 'हमीरमहाकाव्य' का निर्माण किया। सम्भवतः उन्होंने इसकी रचना राजस्थान में की थी।[7] यह कथात्मक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

15वीं एवं 16वीं सदी के संस्कृत ग्रन्थों में रचना-स्थल का उल्लेख नहीं है। किन्तु उनमें से अधिकांश पश्चिमी भारत में लिखे गये होंगे। 17वीं सदी में जैन विद्वानों द्वारा अधिक मात्रा में संस्कृत साहित्य लिखा गया है। आचार्य समयसुन्दर (1650) ने लगभग पांच सौ छोटी-बड़ी रचनाएं की हैं जिनमें 14 संस्कृत के ग्रन्थ राजस्थान में लिख गये हैं। इस शतक में तपागच्छीय जैन विद्वानों की संस्कृत सेवा महत्त्वपूर्ण है। हर्षकीर्ति व पद्मसुन्दर के संस्कृत ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। 18वीं सदी के जैन संस्कृत विद्वानों में उपाध्याय मेघविजय का योगदान महत्त्वपूर्ण है। आपका सप्तसंधान महाकाव्य विस्ममयकारी है जिसमें रामकृष्ण एवं पांच तीर्थंकरों के चरित का एक साथ वर्णन है। यशोविजय इस युग के दूसरे

उल्लेखनीय आचार्य है जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के द्वारा जैन-न्याय को पुनः व्यवस्थित रूप प्रदान किया है।

उन्नीसवीं सदी में जैन विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य बहुत कम लिखा गया है। संभवतः क्षेत्रीय भाषाओं एवं हिन्दी भाषा की लोकप्रियता इसका कारण रही हो। फिर भी जैन आचार्यों की संस्कृत के प्रति रूचि बनी रही है। तेरापंथी सम्प्रदाय के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि उनके प्रारम्भिक आचार्यों ने बड़े परिश्रम के साथ संस्कृत का ज्ञान अर्जित किया एवं संस्कृत लेखन को अपने मुनि समुदाय में जागृत किया। उसी का परिणाम है कि लगभग 200 संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन इस सम्प्रदाय के मुनियों द्वारा हो चुका है।[8] आज भी आचार्य तुलसी के शिष्य अन्य भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य की रचना में संलग्न हैं। अन्य जैन सम्प्रदायों के विद्वानों द्वारा भी वर्तमान युग में कुछ संस्कृत ग्रन्थ लिखे गये हैं।

जैन संस्कृत साहित्य की प्रमुख विधाएं :

पश्चिमी भारत के जैन विद्वानों ने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में संस्कृत के ग्रन्थ लिखे हैं। यद्यपि दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य का प्राधान्य अधिक है, फिर भी उन्होंने चरित, पुराण, काव्य, नाटक, स्तोत्र आदि विधाओं के माध्यम से धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, कोष, अलंकार आदि अनेक विषयों के साहित्य का सृजन किया है, जो भारतीय साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय है। इन सभी विधाओं से सम्बन्धित जैन संस्कृत साहित्य का यहाँ परिचय देना सम्भव नहीं है। इन विधाओं को जैन विद्वानों ने नया स्वरूप प्रदान किया है।

महाकाव्य : जैन विद्वानों द्वारा पौराणिक, ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय तीनों के प्रकार के महाकाव्य लिखे गये हैं, जिन पर प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत महाकाव्यों का प्रभाव है। जैन संस्कृत महाकाव्यों की निजी विशेषताएं भी हैं। तथा - इनमें भाषा को अधिक सरल बनाया गया है तथा देशज शब्दों का उपयोग किया गया है। अवान्तर कथाओं का संयोजन किया गया है। नायक का साधारणीकरण दृष्टिगत होता है तथा काव्यरस की अपेक्षा धर्मभाव का प्राधान्य है। जैन संस्कृत महाकाव्यों की इन प्रवृत्तियों का क्षेत्रीय भाषाओं एवं हिन्दी के महाकाव्यों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

पुराण : जैन विद्वानों ने संस्कृत में पुराण-साहित्य के लेखन में भी पर्याप्त उत्साह दिखाया है। आचार्य रविषेण (635 ई.) ने सर्वप्रथम 'पद्मपुराण' लिखा। तदनन्तर राजस्थान के अनेक जैन विद्वानों ने इसमें योगदान दिया है। आचार्य हेमचन्द्र, आसग, सकलकीर्ति, जिनदास, ब्रह्म जिनदास, शुभचन्द्र आदि के पुराण, संस्कृत साहित्य के अनुपम ग्रन्थ हैं।[9] किन्तु जैन संस्कृत पुराणों में तीर्थकर के जीवनचरित के साथ अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन का भी वर्णन होना है तथा इनकी वर्णन शैली एवं भाषा इतनी काव्यात्मक है कि इन्हें पुराण कहने के बजाय काव्य कहना अधिक उपयुक्त है। 'हरिवंशपुराण' (जिनसेन) को तो जैन संस्कृत साहित्य का महाभारत कहा जा सकता है।

चरित : जैन संस्कृत चरित-साहित्य को काव्य एवं कथा-साहित्य के मध्य में रखा जा सकता है। संस्कृत चरित-साहित्य के द्वारा भाषा को प्रायः सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे जो व्यक्ति काव्य की क्लिष्ट भाषा नहीं समझ सकते वे चरित ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अपना मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन कर सकें। लगभग 9वीं सदी तक यह साहित्य संस्कृत में पश्चिमी भारत में लिखा जाता रहा, जिसकी अनेक प्रतियां ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त होती है। संस्कृत के चरित ग्रन्थों में प्रायः तीर्थकरों की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है।

कथा : संस्कृत में कथा ग्रन्थ प्राकृत की अपेक्षा कम लिखे गये हैं। लेकिन धार्मिक सिद्धान्तों को समझाने के लिए कथाओं का सबसे अधिक उपयोग किया गया है। पश्चिमी भारत के जैन विद्वानों ने भी इस माध्यम को अपनाया है। महेन्द्रसूरि (1130 ई.) की 'नर्मदासुन्दरी कथा', नरचन्द्र सूरि का 'कथारत्नसागर', राजशेखर का 'कथासंग्रह', सोमचन्द्र मणि (1449 ई.) का कथामहोदधि, सोमकीर्ति की 'सप्तव्यसन कथा' तथा गुणकसूरि की 'सम्यक्त्व कौमुदी' आदि रचनाएं संस्कृत के अन्य कथा साहित्य से कम नहीं हैं। पंचतन्त्र की कथात्मक शैली का जैन संस्कृत साहित्य के इन कथाग्रंन्थों द्वारा पर्याप्त विकास हुआ है।

नाटक : जैन संस्कृत नाटकों का लेखन अन्य विधाओं की अपेक्षा बाद में प्रारम्भ हुआ है। सम्भवतः जैनाचार्य आदि विनोदों को धर्म की दृष्टि से हेय समझते थे। अतः उनके लेखन की ओर उनका प्रयत्न कम रहा। फिर भी 12वीं सदी से जैन विद्वानों द्वारा संस्कृत के अनेक नाटक लिखे गये हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के 'रघुविलास', 'नवलविलास' आदि जयसिंहसूरि का 'हम्मीरमदमर्देन' तथा मेघाप्रभाचार्य का 'धर्माभ्युदय' आदि पश्चिमी भारत में लिखित जैन संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटक हैं। 'अनर्धराधव' नाटक पर तीन जैन विद्वानों ने संस्कृत टीकाएं भी लिखी हैं।[10] जैन संस्कृत नाटकों द्वारा केवल मनोरंजन ही नहीं होता अपितु धर्म-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी होता है।

पश्चिमी भारत में लिखित जैन संस्कृत साहित्य में इन उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त स्तोत्र, सुभाषित, नीति, सन्देशकाव्य आदि विधाओं का पर्याप्त साहित्य मिलता है, जो यद्यपि काव्यात्मक दृष्टि से अधिक रसात्मक नहीं है फिर भी जीवन में उसकी उपयोगिता अधिक है। जैन समाज में भक्तिवाद के प्रचार में इस प्रकार के साहित्य ने अधिक प्रभाव डाला है।

ज्योतिष एवं गणित : ज्योतिष एवं गणित से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ जैन विद्वानों ने संस्कृत में लिखे हैं। 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' एवं 'ज्योतिष्करण्ड' प्राकृत के इन ग्रन्थों पर मलयगिरि ने संस्कृत टीकाएं लिखी हैं। हरिभद्रसूरि ने 'लग्नसिद्ध', नरचन्द्र ने 'नरचन्द्रज्योतिषशास्त्र' तथा 'हर्षकीर्ति' ने 'ज्योतिषशास्त्र', जन्मपत्रीपद्धति 'लग्नविचार' नामक स्वतन्त्र ज्योतिषग्रन्थ लिखे हैं। गणित के क्षेत्र में महावीराचार्य (8वीं सदी) का 'गणितसारसंग्रह', श्रीधराचार्य का 'गणितसार' तथ राजादित्य का 'व्यहारगणित' आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष तथा गणित के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

जैनेतर संस्कृत ग्रन्थों पर टीकाएं :

पश्चिमी भारत के जैन विद्वानों ने अनके ग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएं लिखकर संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवा की है। इससे एक ओर जहाँ प्रसिद्ध कवियों की संस्कृत रचनाएं समाज में अधिक लोकप्रिय हुई हैं। दूसरी ओर उन कृतियों का मूल-स्वरूप भी सुरक्षित रह गया है। कालिदास, हर्ष, माघ, भारवि, भट्टि, सोमेश्वर आदि के प्रसिद्ध ग्रन्थों की अनेक पाण्डुलिपियां जैन ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त हैं।[11] इन पर जिन जैन विद्वानों ने संस्कृत में टीकाएं लिखी हैं उनमें प्रकाशवर्ष (किरातार्जुनीयम्), धर्ममेरु, सुमतिविजय, चारित्रवर्द्धन (रघुवंश), गुणरत्न (काव्यादर्श), मल्लिनाथ, विनयचन्द्र (मेघदूत आदि), जिनराजसूरि (नेषधचरित) आदि टीकाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।[12] यह जैन विद्वानों का एक तरफ प्रयत्न था। यदि इसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् जैन-प्राकृत साहित्य के ग्रन्थों पर टीकाएं लिखते तो आज जैन साहित्य इतना उपेक्षित नहीं रहता।

राजपुरुषों एवं श्रावकों द्वारा संस्कृत-सेवा :

समय-समय पर पश्चिमी भारत में अनेक राजपुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होने जैन विद्वानों को राज्याश्रय एवं अन्य सुविधाएं प्रदान कर संस्कृत साहित्य के लेखन में सहयोग प्रदान किया है। स्वयं भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इस क्षेत्र में गुजरात के राजाओं एवं राज्यमंत्रियों का प्रमुख योगदान रहा है। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, वस्तुपाल-तेजपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वस्तुपाल का निजी पुस्तकालय संस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थों से समृद्ध था। उसके विद्वानों की सुविधा के लिए तीन नगरों में पुस्तकालय भी स्थापित किये थे।[13] समय-समय पर इन राजाओं द्वारा वादविवाद प्रतियोगिताएं आयोजित होती रहती थीं, जिसमें जैनविद्वान् भी भाग लेते थे और संस्कृत की रचनाओं द्वारा चमत्कार दिखाते थे। जैन गृहस्थों का मुक्त-हस्त से दिया गया दान संस्कृत साहित्य की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण था। कुछ श्रावकों ने संस्कृत की रचनाएं भी लिखी हैं, यथा -सेठपुत्र पद्मानन्द का 'वैराग्यशतक' तथा नेमिचन्द्र भण्डारी के ग्रन्थ आदि।

जैन विद्वानों द्वारा लिखित संस्कृत अभिलेख :

पश्चिमी भारत के कुछ जैन विद्वानों का राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। राजाओं की सभा में रहने के कारण वे उनके अभिलेख आदि लिखने का कार्य भी करते थे। कुमारपाल का चित्तौड़ अभिलेख (1150 ई.), बिजोलिया अभिलेख (1168) तथा सून्था अभिलेख (1319 ई.) दिगम्बर जैन विद्वानों द्वारा संस्कृत में लिखे गये हैं।[14] इस प्रकार के अन्य अभिलेख भी खोजे जा सकते हैं जो न केवल ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, अपितु उनका काव्य पक्ष भी अध्ययन के योग्य है।

संदर्भ

1. प्रभावकचरित - हेमचन्द्र —प्रबन्ध आदि ।
2. भारतीय संस्कृति के विकास मे जैन धर्म का योगदान - डॉ. हीरालाल जैन
3. वीरभूमि चित्तौड़ - श्री राममवल्लभ सोमानी, चतुर्थ अध्याय
4. जैनसिद्धान्तभाष्कर, 6.2, 16.1 ।
5. हरिभद्र से प्राकृत-कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन ।
6. संस्कृत के 60 शतक' - बरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ. 534 पर अगरचन्द नाहटा का लेख द्रष्टव्य है ।
7. राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा, पृ. 35, श्री अगरचन्द नाहटा ।
8. भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ ।
9. जैन ग्रन्थ भण्डारस इन राजस्थान, पृ. 138, डॉ. के.सी. कासलीवाल
10. जैन ग्रन्थ भण्डार्स इन राजस्थान, पृ. 191, डॉ. कासलीवाल
11. जैन ग्रन्थ भण्डार्स इन राजस्थान, पृ. 217
12. मधुमती-जैनतर संस्कृत साहित्य, श्री अगरचनन्द्र नाहटा का लेख ।
13. प्रबन्धकोष, पृ. 126, वस्तुपालचरित, पृ. 80
14. राजस्थान थ्रू द एजेज-डॉ. दशरथ शर्मा, पृ. 524

❑❑❑

पंचदश

संस्कृत जैन काव्यों पर कालिदास का प्रभाव

संस्कृत जैन काव्य के विकास में उन कवियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है, जो जैनधर्म के अनुयायी थे। ईसा की दूसरी शताब्दी से निरन्तर जैन कवियों ने विभिन्न विधाओं में संस्कृत में काव्य लिखे हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर शोध कार्य भी हुए हैं किन्तु उनमें से बहुत कम प्रकाश में आ पाये हैं।[1] डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री,[2] डॉ. श्याम सुन्दर दीक्षित,[3] डॉ सत्यव्रत[4] आदि विद्वानों ने संस्कृत के जैन काव्यों का तुलनात्मक मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया है, जिससे यह स्पष्ट हुआ है कि ये काव्य संस्कृत कवियों की रचनाओं से अनुप्राणित होते हुए भी अपने काव्य-सौष्ठव एवं कथ्य आदि के कारण विशिष्ट हैं। संस्कृत के अनेक जैन महाकाव्य किसी न किसी व्यक्ति के चरित से ही नामांकित हैं। इन काव्यों में काव्यात्मकता, पौराणिकता एवं कथात्मकता की त्रिवेणी प्रवाहित है।

जैन कवि की शिक्षा-दीक्षा ऐसे वातावरण में होती थी, जहाँ ग्रन्थ-भण्डारों की सुविधा सहज प्राप्त थी। वहाँ पर संस्कृत के मूर्धन्य कवियों की रचनाएं अध्ययन के लिए उन्हें उपलब्ध होती थीं। अत: जैन कवियों की रचनाएं अध्ययन के लिए उन्हें उपलब्ध होती थीं। अतः जैन कवियों का महाकवि कालिदास, बाण, माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि के काव्य आदर्शों से साक्षात्कार था। उनकी प्रतिस्पर्द्धा में उन्हें काव्य रचना करनी थी। इस कारण जैन कवियों ने अपने काव्यों को कथ्य की भिन्नता होते हुए भी रसात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक है कि उनकी रचनाएं कालिदास आदि कवियों के काव्य-बिम्बों एवं शैली आदि से प्रभावित हों। यहाँ कालिदास के काव्यों के कुछ प्रभाव कतिपय जैन कवियों की रचनाओं में रेखांकित करने का प्रयत्न है।

10वीं शताब्दी के आचार्य वीरनंदि ने चन्द्रप्रभचरित लिखा है[5] जो महाकाव्य की कोटि का ग्रन्थ है। इस काव्य में कवि ने अपनी प्रतिभा और मौलिकता का प्रदर्शन किया है। किन्तु पूर्ववती संस्कृत कवियों का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है।

कालिदास के रघुवंशम् के द्वितीय सर्ग के प्रथम श्लोक में प्रयुक्त पदावलि 'अथप्रजानामधिपः प्रभाते' का प्रयोग वीरनंदि ने अपने काव्य के दो श्लोकों में किया है। किन्तु उनका प्रसंग भिन्न हैं।

पुत्र-जन्म के समाचार प्राप्त होने पर जैसे रघुवंशम् में राजा दिलीप ने अपने भृत्यों

को राज्यचिन्ह मात्र छोड़कर शेष सब गहने पुरुस्कार में दे दिये थे, वैसे ही जैन कवियों के काव्यों मे वर्णित पिता भी अपना सब कुछ प्रदान करने को तैयार रहते हैं। चन्द्रप्रभचरित में महाराज श्रीषेण को ऐसे अवसर पर देय-अदेय का विचार ही नहीं रहता -

देयं न देयंमिदमित्यथवा क्षितीशः

धनंजय के द्विसंधान काव्य में भी यही बात कही गयी है कि राजा ने भावी राजा, अपने कुमार के राज्य चिन्हों (छत्र, चंवर) को छोड़कर शरीर के सभी आभूषण पुरुस्कार में दे दिये। यथा -

निवेदयदम्यः सुतजन्मराजा
स राजचिन्हसुत्तराज्यभाव्यम्।
द्वित्वैतदैकं धृतवान्र्किचिद्
देयं हि तुष्टैरपि नान्यदीयम्॥

– द्वि :3 : 16

कवि वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरितम् में कवि कालिदास के कई भावों को ग्रहण किया है। रघुवंशम् में कहा गया है कि राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृक्षों में फलपुष्पों में वृद्धि हो गयी, हिंसक प्राणियों ने बैरभाव छोड़ दिया, इत्यादि।[6] यही बात पार्श्वनाथचरितम् में महर्षि स्वयंप्रभ के आगमन पर कही गयी है। यथा -

यतेरैर्हिसाव्रतपारगस्य हिंस्राः समीपे नृपवैरमुक्ताः।
बसन्ति संभूयवनद्रुमाणां छायासु नव्योद्गमवासुतासु॥

– पा. च. : 2 : 215

वादिराज ने नारी-सौन्दर्य के वर्णन में भी कालिदास का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।[7] किन्तु कई स्थानों/पर उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी प्रस्तुत की हैं। वादिराजकृत ऋतुवर्णन भी कालिदास के ऋतुसंहारम् के वर्णनों के समतुल्य है।[8]

कालिदास ने लिखा है कि रघु के जन्म के समय दिशाएं प्रसन्न हो गयीं और पवन सुगंधित हो गया। यह भाव वीरनंदि ने चन्द्रप्रभ के समय व्यक्त किये हैं कि उस समय दिशाएँ और आकाश निर्मल हो गये तथा हवा ने दिशारूपी अंगनाओं को सुवासित कर दिया -

ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट-निखिलममलनभस्तलम्।
तस्यजननसमये पवनः सुरभिर्ववौसुरमयन्दिगंगनाः॥

– चन्द्र : 17 : 2

महाकवि अभयदेव नें भी अपने जयन्तविजय महाकाव्य में यही बात कही है। यथा

दिशाः प्रसन्नाः शरदीवनद्योवातास्तरामोदभृतो जनाश्च।
बभूवुरभ्रे सुरसुन्दरीनां पयोदनादप्रतिमा निनादाः॥

– जयन्त : 6 : 70

कवि वादिराज ने यही बात अपने काव्य में कही है।[9]

कुमारसम्भवम् में हिमालय की ज़ड़ी-बूटियों के प्रकाश को वहाँ की रमणियों के लिए बिना तेल के दीपक कहा गया है -

भवति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥

– कुमार 1 : 20

कवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित में[10] में इसी भाव को विकसित करते हुए लिखा है कि द्वारिका की नारियों के कपोल रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश में दीपक बन जाते हैं। अतः वहां के लोग मंगल के लिए ही दीपक जलाते थे -

'तरुणीकपोलज्योत्स्ना प्रकाशेन कृतावभासे'......इत्यादि।

कालिदास ने कुममारसम्भवम् में कहा है कि गुणसमूह के रहने पर एक दोष नगण्य हो जाता है। यथा -

एकोहि दोषो गुणसंनिनाते निमज्जतीन्दो किरणेष्ववांङ्क : ॥

महाकवि महासेन ने अपने प्रद्युम्नचरितम् में इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा है कि उस नगर के द्वारों में जनता की इतनी भीड़ होती थी कि आपस में एक दूसरे से लोग दब जाते थे। फिर भी नगर के अन्य गुणों के समान लोग उसके इस दोष को कुछ नहीं मानते थे। यथा -

यत्र प्रतोली जनताप्रवेशनिष्काससंबाधनिपीडितोऽपि।

लोको न दोषं मनुते निमग्नो लीलानिधाने गुणवारिराशौ ॥

- प्र, च. : 11 : 35

रघुवंशम् में नंदिनी गाय को पृथ्वी का रूप माना गया है और उसके चार थनों को पृथ्वी के चार समुद्र। पृथ्वी रूपी गाय के इसी रूपक को लेकर जैन कवियों ने भी अपने भाव व्यक्त किये हैं। महाकवि असंग ने वर्धमानचरितम् में राजकुमार नन्दन का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने चार समुद्ररूपी स्तनवाली रक्षारूपी रस्सी से वश में की गई और समीचीन न्यायरूपी बछड़े के पोषण से पसुरायी गयी पृथ्वी रूपी गाय से दूध के समान अनेक रत्नों को दुहा। यथा -

चतुः पयोराशिपयोधरश्रियं

नियम्य रक्षायतरश्मिनाधनम्।

उपस्नुतां सन्तवयत्सलालवे

र्दुदौह गां रत्नपयांसि गोपकः ॥

रघुवंश के मंगलाचरण के बाद कालिदास कहते हैं, कहां तो रघुवंश का गौरव और कहां मोटी बुद्धिवाला कवि मैं ? तिनके की नाव से उस अपार समुद्र को पार करने की मैं मूर्खता कर रहा हूं -

क्व सूर्यप्रभववंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुदुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

महाकवि असंग ने अपने वर्द्धमानचरितम् में लघुता प्रकट करते हुए कालिदास के इसी भाव में काव्य चमत्कार भर दिया है। वे कहते हैं कि जिस उत्कृष्ट पुराण रूपी समुद्र को मन के वेग की गतिवाला गरुड पार कर सकता है, उस समुद्र को मुझ जैसा जड़बुद्धि मयूर कैसे पार कर सकेगा ?[11]

कालिदास द्वारा प्रयुक्त श्लोक के किसी चरण की शब्दावली का यथावत् प्रयोग करते हुए भी जैन कवि प्रसंग के अनुसार अपने कवित्व को प्रकट कर देते हैं। कुमारसम्भवम् में पार्वती को योवन का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि शरीररूपी लता का स्वाभाविक श्रृंगार ही उसका यौवन है -

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेः .... । कुमार .1/31

कवि हरिचन्द्र ने कालिदास के इस एकपद को लेकर यौवन के स्थान पर वृद्धावस्था का सुन्दर और मार्मिक चित्रण कर दिया है। कवि कहता है - जो बिना पहने ही शरीर को अलंकृत करने वाला आभूषण था, वह मेरा यौवन रूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानों उसे खोजने के लिए वृद्ध मनुष्य अपना पूर्वभाग झुकाकर नीचे-नीचे देखता हुआ इधर-उधर पृथ्वी पर चलता है। यथा -

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतम् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यत्नवोऽधोभुवि बभ्रमीति ॥[12]

कालिदास ने रघुवंशम् के छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का सुन्दर वर्णन किया है। इस वर्णन से प्रभावित होकर महाकवि हरिचन्द्र ने अपने धर्मशर्माभ्युदयम् के 17 वें सर्ग में श्रृंगारवती के स्वयंवर का जो वर्णन किया है, वह तुलनीय है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री[13] एवं पं. पन्नालाल साहित्याचार्य[14] ने इस पर विशेष प्रकाश जाला है। प्रसंग समान होने पर भी हरिचन्द्र कवि ने अपनी मौलिकता बनाये रखी है।

महाकवि अभयदेव ने अपने जयन्तविजयम् में भी रतिसुन्दरी के स्वयंवर के वर्णन में कालिदास के इन्दुमती के स्वयंवरवर्णन से प्रेरणा ग्रहण की है (16 वां सर्ग) जयंतविजय वर्णित दिग्विजयवर्णन भी रघु की दिग्विजय वर्णन से प्रभावित है (11 वां सर्ग)।

रघुवंशम् में कहा गया है कि रघु के जन्म के समय उस बालक के तेज से सौरगृह के दीपकों का प्रकाश फीका पड़ गया। दीपक चित्रलिखित से हो गये (रघु 3 : 15)। कवि धनंजय ने अपने द्विसंधान काव्यम्[15] में यही बात अन्य ढंग से कही है। उस राजपुत्र के जन्मते ही प्रसूतिगृह के रत्न-दीपक तेजहीन हो गये। वे ऐसे लगते थे मानों मन्त्रवादी संपेरो द्वारा फण से पकड़े गये उदास सांप हों। यथा -

तस्मिन् सुते तत्क्षणजातमात्रे रत्नप्रदीपाः प्रभया - विमुक्ताः ।

नित्यं नरालम्बितभोगभागो नागा इवोच्चैः सविषादमस्थुः ॥

- द्वि. 3 : 12

रत्नों के प्रकाश के सामने दीपकों की निरर्थकता की बात कवि जयशेखरसूरि ने भी अपने जैनकुमारसम्भवम् में की है **(1 : 6)**।

कालिदास ने मेघदूतम् में कहा है कि सच्चे मन से यदि बड़ों का उपकार किया जाये तो वे शीघ्र ही अपने उपकारी का आदर करते हैं -

सद्भावर्द्रः फलति न चिरेणोपचारो महत्सु। -- मेघ. पू : 19

अभयदेव कवि के जयतंविजयम् काव्य[16] में भी यही भाव व्यक्ति किया गया है--

फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकारः, - जय. 8:24

इस काव्य के आठवें सर्ग की काव्यकला मेघदूतम् से तुलनीय है।

महाकवि कालिदास की रचनाओं के पठन-पाठन का जैन कवियों में बहुत प्रचलन था। अतः मध्ययुग के कई जैन कवियों ने कालिदास की रजनाओं के समकक्ष अपनी रचनाएं प्रस्तुत करने प्रयत्न किया है। कुमारसम्भवम् काव्य से प्रभावित होकर कवि जयशेखरसूरि ने जैन कुमारसम्भवम् [17] काव्य की रचना 15वीं शताब्दी में की है। यह ग्रन्थ 11 सर्ग का है और इसमें ऋषभदेव के पुत्र भरत की उत्पति की कथा अंकित है।

कालिदास के सन्देशकाव्य मेघदूतम् से प्रेरणा लेकर जैन कवियों ने कई सन्देश-काव्यों की रचना की है। उन्होंने मेघदूतम् के श्रृंगार के वातावरण को अपने काव्यों में वैराग्यमय बनाया है। फिर भी काव्य तत्वों की उनमें कमी नहीं है।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने मेघदूतम् के पदों के लेकर समस्यापूर्ति के रूप में पाश्र्वाभ्युदयम् नामक[18] काव्य लिखा है। इसमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया है। इस काव्य में कवि ने मेघदूतम् के कहीं एक चरण को लेकर शेष तीन चरण अपने बनाये हैं, तो कहीं दो चरण मेघदूतम् के हैं और दो स्वयं के। किन्तु उनका अर्थ पार्श्वनाथ के जीवनक्रम को ध्यान में रखकर बैठाया गया है।

मेघदूतम् में कहा गया है कि यक्ष ने जब गेरू से अपनी प्रिया का चित्र बना कर उससे मिलन करना चाहा तो उसके आँसुओं ने उमड़ कर चित्र को धूमिल कर दिया और चित्र में भी उसका मिलन नहीं हो पाया। इस पद्य के भाव को जिनसेन ने 'स्वप्न-दर्शन में भी प्रिय का मिलन नहीं हो पाया, इसमें बदल दिया है'। यथा -

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदंगं,
तल्पे नाल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदः प्रक्लृप्ते।
तीव्रापायत्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नापं,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

- पा. 4 : 35

पार्श्वाम्युदयम् में इस प्रकार जिनसेन ने मेघदूतम् के सभी पद्यों मे समाविष्ट कर लिया है। अतः मेघदूतम् के प्राचीन पाठ को सुरक्षित रखने में भी इस काव्य का योगदान है।

चौहदवीं शताब्दी के कवि विक्रम ने नेमिदूतकाव्यम् लिखा है।[19] इसमें मेघदूतम् के चतुर्थ चरण को लेकर शेष चरण कवि ने अपने लिखे हैं। कालिदास का मेघदूतम् जैन

कवियों के लिए उपजीव्य काव्य रहा है। अत 10-15 रचनाएं संदेशकाव्य के रूप में कवियों ने लिखी हैं।[20]

संस्कृत के जैन कवियों की रचनाओं पर कालिदास के प्रभाव का यह दिग्दर्शन मात्र है। एक-एक ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से इस सम्बन्ध में अधिकारिक रूप से एवं विस्तार से कहा जा सकेगा। जैन कवियों ने अपनी प्रतिभा से जो काव्य-चमत्कार उपस्थित किये हैं,उनके दिग्ददर्शन के लिए स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त नवीन उपमान संस्कृत काव्य-लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण आधार बन सकते हैं। संस्कृत के जैन काव्यों का चरित्र विश्लेषण अनूठा है। उसकी नैतिक स्थापनाएं राष्ट्रीय महत्व की हैं। इन कवियों ने पाद-पूर्ति अथवा समस्यापूर्ति काव्य - विधा को नई गति प्रदान की है। नवीन अर्थ के विन्यास की श्रृंगार की रसधारा को वैराग्य की ओर मोड़ना जैन काव्यों का अपना वैशिष्ट्य है।

सन्दर्भ

1. डाक्ट्रल डिटर्टेशन इन जैन एण्ड बुद्धिष्ट स्टडीज, वाराणसी : 1983 : पृ. 20
2. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली 1971
3. 13वीं - 14 शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, जयपुर, 1969
4. संस्कृत के जैन महाकाव्य : थीसिस : 1972
5. काव्यमालांक : 30, निर्णयसागर, प्रेस, बम्बई, 1912 में प्रकाशित
6. 6 रघुवंशम् : 2 : 14
7. जयकुमार जैन, वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, मुजफ्फरनगर, 1987 : पृ. 272
8. पार्श्वनाथचरितम् : 5 : 71
9. पार्श्वनाथचरितम् : 4 : 117-122
10. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई : 1916
11. वर्द्धमानचरितम् : 1 : 4
12. धर्मशर्माभ्युदयम्, निर्णयसागर, बम्बई : 1933, 4.59
13. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. 274
14. महाकवि हरिचन्द्र - एक अनुशीलन, 1975 पृ. 88
15. काव्यमाला, 49 : निर्णयसागर, बम्बई : 1895
16. काव्यमाला : 75 निर्णयसागर, बम्बई : 1902
17. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत : 1946
18. निर्णसागर, बम्बई : 1909
19. नेमिदूतम्, कोटा प्रकाशन : सं. 2005
20. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. 478 आदि

❑❑❑

षोडश

पाश्चात्य विद्वानों का जैनविद्या को योगदान

आधुनिक युग में प्राच्यविद्याओं का विदेशों में अध्ययन 17वी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के बाद पालि एवं बौद्धधर्म का अध्ययन विदेशों में विद्वानों द्वारा किया गया। 1826 ई. में बर्नोफ तथा लास्सन का संयुक्त रूप से 'ऐसे सुर ला पालि' निबन्ध प्रकाशित हुआ, जिसमें बुद्ध की मूल शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में 1861 ई. तक जो ग्रन्थ प्रकाश में आये,[1] उनमें प्राकृत व अपभ्रंश भाषा पर कोई विचार नहीं किया गया। क्योंकि तब तक इन भाषाओं का साहित्य विदेशी विद्वानों की दृष्टि में नहीं आया था।

किन्तु 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृत भाषा का अध्ययन भी विदेशी विद्वानों द्वारा प्रारम्भ हो गया। फ्रान्सीसी विद्वान् चार्ल्स विल्किन्स ने 'अभिज्ञानरशाकुन्तल' के अध्ययन के साथ प्राकृत का उल्लेख किया। हेनरी टामस कोलब्रुक ने प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ निबन्ध लिखे। तथा 1897 ई. में लन्दन के जे.ज़े. फर्लांग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शार्ट स्टडीज इन ए साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलिजन्स' में शिलालेखों में उत्कीर्ण प्राकृत भाषा का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन के प्रति पाश्चात्य विद्वानों ने रुचि लेना प्रारम्भ किया, जो आगामी अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण भूमिका थी।

जैनविद्या के खोजी विद्वान् :

पाश्चात्य विद्वानों के लिए जैनविद्या के अध्ययन की सामग्री जुटाने वाले प्रमुख विद्वान डॉ. जे.ज़ी. बूलर थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में व्यतीत किया। 1866 ई. के लगभग उन्होंने पाँच सौ जैन ग्रन्थ भारत से बर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजे थे। जैन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर डॉ. बूलर ने 1887 ई. में जैनधर्म पर जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 1903 ई. में लंदन 'द इण्डियन सेक्टस् ऑफ द जैन्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में डॉ बूलर ने कहा कि जैन धर्म भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैला है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना रहा है।

इस समय के जैनविद्या के दूसरे महत्वपूर्ण खोजी विद्वान अल्बर्ड वेबर थे। उन्होंने डॉ. बूलर द्वारा जर्मनी को प्रेषित जैन ग्रन्थों का अनुशीलन कर जैन साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। 1882 ई. में प्रकाशित उनका शोधपूर्ण ग्रन्थ Indischen Studien (Indian Literature) जैनविद्या पर विशेष प्रकाश डालता है। इन दोनों विद्वानों के प्रयत्नों से विदेशों में प्राकृत भाषा के अध्ययन को पर्याप्त गति मिली है।

प्राकृत भाषा का अध्ययन :

पाश्चात्य विद्वानों ने जैनविद्या के अध्ययन का प्रारम्भ प्राकृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से किया। कुछ विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करते हुए प्राकृत भाषा का अनुशीलन किया तो कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अपनी शोध प्रस्तुत की। यह शोध-सामग्री निबन्धों और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्राप्त होती है। पाश्चात्य विद्वानों के प्राकृत भाषा सम्बन्धी सभी लेखों और ग्रन्थों का मूल्यांकन प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में प्राकृत भाषा सम्बन्धी हुए अध्ययन का संक्षिप्त विवरण कालक्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है।

19वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में जर्मनी में प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। होएफर की 'डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ (1836 ई.) तथा लास्सन की 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाएँ, इस समय की प्रमुख रचनाएँ हैं। पाँचवें दशक में प्राकृत ग्रन्थों का जर्मन में अनुवाद भी होने लगा था। ओ बोलिक ने 1848 ई. में हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' का जर्मन संस्करण तैयार कर दिया था।[2] स्पीगल (1949 ई.) ने 'म्युंशनर गेलेर्नें आन्त्साइगन' में प्राकृत भाषा का परिचय दिया है।

इस समय तुलनात्मक दृष्टि से भी प्राकृत भाषा का महत्व बढ़ गया था। अतः अन्य भाषाओं के साथ प्राकृत का अध्ययन विदेशी विद्वान् करने लगे थे। डॉ. अर्नेस्ट ट्रम्प (1861-62) ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया, जो 'ग्रेमर आव द सिन्धी लेंग्वेज कम्पेयर्ड विद द संस्कृत, प्राकृत एण्ड द काग्नेट इंडियन वर्नाक्युलर्स' नाम से 1872 ई. में प्रकाशित हुआ। 1869 ई. में फ्रेडरिक हेग ने अपने शोध-प्रबन्ध 'वर्गलचुंग डेस प्राकृत डण्ड डेर रोमानिश्चियन श्प्राखन' में प्राकृत भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्राकृत भाषा के व्याकरण का अध्ययन गतिशील हो गया था। डॉ. जे.एच. बूलर ने 1874 ई. में 'द देशी शब्द संग्रह आफ हेमचन्द्र' एवं 'आन ए प्राकृत ग्लासरी इनटायटिल्ड पाइयलच्छी' ये दो महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये।[3] तथा 1889 ई. में आपकी 'ई. यूवर डास लेबन डेस जैन मोएन्दोस, हेमचन्द्रा' नामक पुस्तक विएना से प्रकाशित हुई। ई. बी. कावेल ने संस्कृत नाटकों की प्राकृत का अध्ययन प्रस्तुत किया जो सन् 1875 ई. में लन्दन से 'ए शार्ट इंट्रोडक्शन टु द आर्डनरी प्राकृत आव द संस्कृत ड्रामाज विद ए लिस्ट आव कामन इरेंगुलर प्राकृत वर्डस' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सम्बन्ध में ई. म्यूलर की 'वाइत्रेगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत' (बर्लिन, 1875 ई.) नामक रचना भी प्राकृत भाषा पर प्रकाश डालती है। सम्भवतः प्राकृत व्याकरण के मूलग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण सर्वप्रथम डॉ. रुडोल्फ हार्नल ने किया। उनका यह ग्रन्थ

'द प्राकृत लक्षणम् आफ हेमचन्द्राज ग्रेमर आफ द एन्शियेंट प्राकृत' 1880 ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

प्राकृत भाषा के पाणिनि : पिशेल :

पाश्चात्य विद्वानों में जर्मन विद्वान रिचर्ड पिशेल (R.Pischel) ने सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनके पूर्व हार्नल, लास्सन, होयेफर, वेबर आदि ने प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु इस अध्ययन को पूर्णता पिशेल ने ही प्रदान की है।

रिचर्ड पिशेल ने आचार्य हेमचन्द्रकृत 'हेमब्दानुशासन' प्राकृत व्याकरण का व्यवस्थित रीति से प्रथम बार सम्पादन किया, जो सन् 1877 ई. में प्रकाशित हुआ। प्राकृत भाषा के अध्ययन में पिशेल ने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। प्राकृत भाषा के व्याकरण की प्रकाशित एवं अप्रकाशित अनेक कृतियों के अनुशीलन के आधार पर उन्होंने प्राकृत भाषाओं का व्याकरण 'ग्रेमेटिक डेर प्राकृत श्प्राखन' नाम से जर्मन में लिखा, जो 1900 ई. में जर्मनी के स्तास्बुर्ग नगर से प्रकाशित हुआ। इसके अब अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

प्राकृत भाषा के इस महान् ग्रन्थ में पिशेल ने न केवल प्राकृत भाषा के व्याकरण को व्यवस्थित रूप दिया है, अपितु प्राकृत भाषा की उत्पत्ति आदि पर भी विचार किया है। अपने पूर्ववर्ती पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निरसन करते हुए पिशेल ने पहली बार यह मत प्रतिपादित किया कि प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न न होकर स्वतन्त्र रुप से विकसित हुई है। वैदिक भाषा के साथ प्राकृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन की नई दिशा प्रदान की है।[4]

विभिन्न प्राकृतों का अध्ययन :

डॉ. पिशेल के बाद बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था। स्वतन्त्र ग्रन्थों के साथ-साथ प्राकृत भाषा सम्बन्धी लेख भी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इस समय के विद्वानों में जार्ज ग्रियर्सन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सामान्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उतना ही प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भी।

सन् 1906 में ग्रियर्सन ने पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध में 'द पैशाची लेंग्वेज आफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया' नाम से एक निबन्ध लिखा, जो लन्दन में छपा था।[5] 1969 ई. में दिल्ली से इसका दूसरा संस्करण निकला है। पैशाची प्राकृत की उत्पत्ति एवं उसका अन्य भाषाओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर आपने विशेष अध्ययन कर 1912 ई. में 'द प्रिवेशन आफ पैशाची एण्ड इट्स रिलेशन टु अदर लेंग्वेज' नामक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया।[6] 1913 ई. में आपने ढक्की प्राकृत के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया 'अपभ्रंश एकार्डिंग टू मार्कण्डेय एण्ड ढक्की प्राकृत।'[7] इनके अतिरिक्त ग्रियर्सन का प्राकृत के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में अध्ययन निरन्तर चलता रहा है। 'द प्राकृत विभाषाज'[8] 'एन

अरवेकवर्ड क्वेटेड वाय हेमचन्द्र'[9], 'प्राकृत धात्वादेश'[10], 'पैशाची'[11], आदि निबन्ध प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश के अध्ययन के प्रति ग्रियर्सन की अभिरुचि को प्रगट करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक तक प्राकृत भाषा का अध्ययन कई पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस समय भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा था। कुछ विद्वानों ने तो प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है। हल्टजश्च ने सिंहराज के प्राकृत-रूपावतार का सम्पादन किया, जो सन् 1909 में लन्दन में छपा।

जैनविद्या का अध्ययन करने वाले विद्वानों में इस समय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. हर्मन जैकाबी थे, जिन्होंने प्राकृत वाड्.मय का विशेष अनुशीलन किया है। जैकोबी ने 'औसगे वेल्ते एत्से लिंगन इन महाराष्ट्री' (महाराष्ट्री (प्राकृत) की चुनी हुई कहानियाँ) नाम से एक पाठ्यपुस्तक तैयार की, जो सन् 1886 ई. में लिपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित हुई। इसके इण्ट्रोडक्शन में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है तथा वैदिक भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत किया है। जैकोबी ने अपने द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थों की भूमिकाओं के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में स्वतन्त्र निबन्ध भी लिखे हैं। सन् 1912-13 में उन्होंने 'प्राकृत देर जेस, उवर आइने नीव सन्धिरीगल इन पाली डण्ड इन, डण्ड उबर दी वेटोमिंग इण्डिश्चिन स्राखन' नामक निबन्ध लिखा,[12] जो, पालि-प्राकृत भाषाओं पर प्रकाश डालता है। जैनकथा साहित्य के आधार पर प्राकृत का सर्वप्रथम अध्ययन जैकोबी ने ही किया है। इस सम्बन्ध में उनका 'उवर डैस प्राकृत इन डेर इत्सेलंग लिटरेचर डेर जैन' नामक निबन्ध महत्वपूर्ण है।

इसी समय पीटर्सन का 'वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत'[13], एफ.इ. पर्जिटर का 'चूलिका पैशाचिक प्राकृत'[14], आर. शिमदित का 'एलीमेण्टर बुक डेर शौरसैनी', बाल्टर शुब्रिग का 'प्राकृत डिचटुंग डण्ड प्राकृत ग्रैमेनीक'[15], एल.डी. बर्नेट का 'ए प्ल्यूरल फार्म इन द प्राकृत आफ खोतान'[16] आदि गवेषणात्मक कार्य प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रकाश में आये।

इस शताब्दी में चतुर्थ एवं पंचम दशक में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें ल्युजिआ नित्ति का अध्ययन विशेष महत्व का है। उन्होंने न केवल प्राकृत के विभिन्न वैयाकरणों के मतों का अध्ययन किया है, अपितु अभी तक प्राकृत भाषा पर हुए पिशेल आदि के ग्रन्थों की सम्यग् समीक्षा भी की है।[17] उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेस ग्रमेरियन्स प्राकृत्स' (प्राकृत के व्याकरणकार) है, जो पेरिस से सन् 1938 ई. में प्रकाशित हुआ है। नित्ति डोलची का दूसरा ग्रन्थ 'डु प्राकृतकल्पतरु डेस रामशर्मन विब्लियोथिक डिले आल हेट्स इटूयड्स' है। इन्होंने प्राकृत-अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित समस्याओं पर शोध-निबन्ध भी लिखे हैं- 'प्राकृत ग्रेमेरिअन्स टर्डिस एट डायलेक्ट्स डु'[18] आदि।

इसी समय टी. वरो का 'द लेंग्वेज आफ द खरोष्ट्री डोकुमेंट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', नामक निबन्ध 1937 में कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ। प्राकृत मुहावरों के सम्बन्ध में विल्तोरे पिसानी ने 'एन अननोटिस्ड प्राकृत इडियम' नामक लेख प्रकाशित किया। मागधी एवं अर्धमागधी के स्वरूप का विवेचन करने वाला डब्ल्यू. ई. क्लर्क का लेख

'मागधी एण्ड अर्धमागधी'[19], सन् 1944 ई. में प्रकाश में आया। 1948 ई. में नार्मन ब्राउन ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत और उसके साहित्य का परिचय देने वाला 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत सम केनिकल मेटेरियल इन' नाम से एक लेख लिखा।[20]

इस शताब्दी के छठे दशक में प्राकृत के साहित्यिक ग्रन्थों पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने दृष्टिपात किया। कुवलयमालाकथा की भाषा ने विद्वानों को अधिक आकृष्ट किया। सन् 1950 में अल्फ्रड मास्तर ने 'ग्लीनिंग्स फ्राम द कुवलयमाला' नामक लेख लिखा[21], जिसमें उन्होंने ग्रन्थ की 18 देशी भाषाओं पर प्रकाश डाला। दूसरे विद्वान जे. क्यूपर ने 'द पैशाची फ्रागमेन्ट आफ द कुवलयमाला' में ग्रन्थ की भाषा की व्याकरण-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की।[22] प्राकृत भाषा के अध्ययन के इस प्रसार के कारण विश्व की अन्य भाषाओं के साथ भी उसकी तुलना की जाने लगी। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ज्यूल्स ब्लाख ने अपने 'प्राकृत Cia लैटिन लेंग्वेज guiden'[23] नामक लेख में प्राकृत और लैटिन भाषा के सम्बन्धों पर विचार किया है।

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन :

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता था। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की खोज एवं अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने से अब ये दोनों भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आ गयी हैं और उन पर अलग-अलग अध्ययन-अनुसन्धान होने लगा है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अब तक हुए अध्ययन और प्रकाशन का विवरण डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने परिश्रमपूर्वक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है।[24] उससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपभ्रंश भाषा का पर्याप्त अध्ययन किया है।

रिचर्ड पिशेल ने प्राकृत व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा के स्वरूप आदि का भी अध्ययन प्रस्तुत किया। 1880 ई. में उन्होंने 'देशी नाममाला' का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा थी और उसमें साहित्य भी रचा जाता था। आपके मत का लास्सन ने भी समर्थन किया। 1902 ई. में पिशल द्वारा लिखित 'माटेरिआलिसन त्सुर डेस अपभ्रंश' पुस्तक बर्लिन से प्रकाशित हुई, जिसमें स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया गया।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा के अध्ययन का सूत्रपात करने वाले रिचर्ड पिशेल थे, उसी प्रकार अपभ्रंश के ग्रन्थों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने वाले विद्वान डॉ. हर्मन जैकोबी थे। 1914 ई. में जैकोबी को भारत के जैन ग्रन्थ-भण्डारों में खोज करते हुए अहमदाबाद में अपभ्रंश का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' प्राप्त हुआ तथा राजकोट में 'नेमिनाथ चरित' की पाण्डुलिपि मिली। जैकोबी ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी भूमिका के साथ इन्हें प्रकाशित किया। तभी से अपभ्रंश भाषा के अध्ययन में भी गतिशीलता आयी। अपभ्रंश का सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं के साथ स्पष्ट होने लगा।

अपभ्रंश भाषा के तीसरे विदेशी अन्वेषक मनीषी डॉ. एल.पी. टेस्सिटरी हैं, जिन्होंने राजस्थानी और गुजराती भाषा का अध्ययन अपभ्रंश के सन्दर्भ में किया है। सन् 1914 से

1916 ई. तक आपके विद्वत्तापूर्ण लेखों ने[25] अपभ्रंश के स्वरूप एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। टेस्सिटरी के इन लेखों के अनुवादक डॉ. नामवरसिंह एवं डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन लेखों की आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में स्वीकार करते हैं। इस बात की पुष्टि डॉ. ग्रियर्सन द्वारा अपभ्रंश के क्षेत्र में किये गये कार्यों से हुई है।

डॉ. ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के प्रथम भाग में अपभ्रंश पर विशेष विचार किया है। 1913 ई. में ग्रियर्सन ने मार्कण्डेय के अनुसार अपभ्रंश भाषा के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। 1922 ई. में 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' नामक एक और लेख आपका प्रकाश में आया।[26] इसी वर्ष अपभ्रंश पर आप स्वतन्त्र रूप से भी लिखते रहे।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ दशक में अपभ्रंश पर और भी निबन्ध प्रकाश में आये। हर्मन जैकोबी का 'जूर फ्राग नाक डेम उसस्प्रंगप्स अपभ्रंश'[27] एस. स्मिथ का 'देजीमांस दुतीय अपभ्रंश आ पाली'[28] तथा लुडविग आल्सडोर्फ का 'अपभ्रंश मटेरेलियन जूर केंटनिस, डेस, बेमर कुनजन जू पिशेल'[29] आदि अधिक महत्वपूर्ण है। 1937 ई. में डॉ. आल्सडोर्फ ने 'अपभ्रंश स्टडियन' नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिपजिंग से प्रकाशित किया, जो अपभ्रंश पर अब तक हुए कार्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। 1939 ई. में लुइगा नित्ति डोलची के 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश कृतियों के फ्रेंच में अनुवाद भी होने लगे थे। नित्ति डोलची ने अपभ्रंश एवं प्राकृत पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन ही नहीं किया, अपितु पिशेल जैसे प्राकृत भाषा के मनीषी की स्थापनाओं की समीक्षा भी की है।

सन् 1950 के बाद अपभ्रंश साहित्य की अनेक कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं। अतः उनके सम्पादन और अध्ययन में भी प्रगति हुई। भारतीय विद्वानों ने इस अवधि में प्राकृत-अपभ्रंश पर पर्याप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है।[30] विदेशी विद्वानों में डॉ. के.डी. व्रीस एवं आल्सडोर्फ के नाम उल्लेखनीय हैं। के.डी. व्रीस ने 1954 ई. में 'अपभ्रंश स्टडीज' नामक दो निबन्ध प्रस्तुत किये।[31] द्रविड़ भाषा और अपभ्रंश का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होंने 'ए द्राविडियन टर्न इन अपभ्रंश'[32], 'ए द्राविडियन ईडियम इन अपभ्रंश'[33] नामक दो निबन्ध तथा 'अपभ्रंश स्टडीज' का तीसरा[34] और चौथा[35] निबन्ध 1959-61 के बीच प्रकाशित किये।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में अपभ्रंश भाषा के क्षेत्र में विदेशी विद्वान तिश्योशी नारा का कार्य महत्वपूर्ण है। सन् 1963 ई. में उन्होंने 'शार्टनिंग आफ द फाइनल वावेल आफ इन्स्ट. सीग. एन एण्ड फोनोलाजी आफ द लेंग्वेज इन सरह दोहा' नामक निबन्ध प्रकाशित किया[36], 1964 ई. में 'ए स्टडी आफ अवहट्ट एण्ड प्रोटोबेंगाली' विषय पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से आपका शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुआ। इसके बाद भी अपभ्रंश पर आपका अध्ययन गतिशील रहा। 1965 ई. में 'अपभ्रंश एण्ड अवहट्ट-प्रोटो न्यू इंडो-आर्यन स्टेजेज'[37] नामक निबन्ध आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया।

जैन साहित्य :

पाश्चात्य विद्वानों ने केवल प्राकृत एवं अपभ्रंश का भाषावैज्ञानिक अध्ययन ही नहीं किया अपितु इन भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया है। जैनागम, जैनटीका-साहित्य तथा स्वतन्त्र-साहित्यिक रचनाओं के प्रामाणिक संस्करण जर्मन और फ्रेंच विद्वानों द्वारा तैयार किये गये हैं। जैन कथा साहित्य पर उनकी विशेष रुचि रही है। व्याकरण एवं भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी से अब तक जैन साहित्य के जिन प्रमुख ग्रन्थों पर पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य किया है, उनका विवरण-कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार है -

1.	अभिधानचिन्तामणि	ओ. बोतलिक	1848 ई.
2.	शत्रुंजयमहात्म्य	अल्वर्ट वेबर	1858
3.	भगवतीसूत्र[38]	जैकोबी	1868
4.	कल्पसूत्र	जैकोबी	1879
5.	देशीनाममाला	पिशल	1880
6.	नायाधम्मकहा	स्टेनल	1881
7.	औपपातिकसूत्र एवं		
8.	रायपसेणिय	लायमन	1882
9.	आचारांग	जैकोबी	1885
10.	उत्तराध्ययनटीका	जैकोबी	1886
11.	हेमचन्द्र लिंगानुशासन	एफ.आर. ओटो	1886
12.	कथा संग्रह	जैकोबी	1886
13.	सगरकथा का जैन रूप	फिक	1886
14.	उपमितिभवप्रपंचकथा	जैकोबी	1891
15.	महावीर एवं बुद्ध	एस.एफ. ओटो	1902
16.	धर्मपरीक्षा	मिरनोव निकालेस	1903
17.	कल्पसूत्र	शुब्रिंग	1904
18.	जैनग्रन्थसंग्रह	ग्यूरेनिट	1906
19.	ज्ञाताधर्मकथा	हट्टमन	1907
20.	अंतगडदसाओ	बरनट	1907
21	वज्जालग्ग	जूलस	1913
22.	पउमचरियं	जैकोबी	1914
23.	कर्मग्रन्थ	ग्लसनप	1915
24.	भविसयत्तकहा	जैकोबी	1918

25.	प्रबन्धचिन्तामणि	सिवेल	1920
26.	कालकाचार्य कथानक	जैकोबी	1921
27.	नेमिनाथचरित	जैकोबी	1921
28.	सनत्कुमारचरित	जैकोबी	1921
29.	तत्वार्थाधिगमसूत्र एवं कल्पसूत्र	सुजुकी	1921
30.	उत्तराध्ययनसूत्र	कारपेण्टर	1922
31.	दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय	वाल्टर	1923
32.	कुमारपालप्रतिबोध	आल्सडोर्फ	1928
33.	दसवेयालियसुत्त	लेमन	1932
34.	हरिवंशपुराण एवं		
35.	महापुराण	आल्सडोर्फ	1935
36.	सूर्यप्रज्ञप्ति	कोल	1937
37.	जम्बूदीप प्रज्ञप्ति	डब्लू किफेल	1937
38.	प्राकृत कल्पतरु	नित्ति डोलची	1939
39.	न्यायावतारसूत्र	कनकुरा	1944
40.	महानिशीथ	हम्म	1948
41.	मल्ली की कथा	गुस्तेव	1952
42.	चौपन्न महापुरिसचरियं	कलास	1955
43.	महानिशीथ	शब्रिंग	1963
44.	आयारदशाओ	शुब्रिंग	1966
45.	प्रवचनसार	ए. उन्नो	1966
46.	उत्तराध्ययन	आल्सडोर्फ	1954-66
47.	ओधनिर्युक्ति	ए. मेटे	1968
48.	मूलाचार[39]	आल्सडोर्फ	1968
49.	भगवती मूलाराधना	आल्सडोर्फ	1968
50.	अनुयोगद्वारसूत्र	टी. हनाकी	1970

विभिन्न विषय :

जैन साहित्य के इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन-दर्शन की अन्य विधाओं पर पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है। उन्होंने जैन ग्रन्थों का सम्पादन ही नहीं किया, अपितु उनके फ्रेंच एवं जर्मन भाषाओं में अनुवाद भी किये हैं। लायमन ने पादलिप्तसूरि की तरंगवती कथा का

सुन्दर अनुवाद दाइनोन (Die Nonne - The Nun) के नाम से प्रकाशित किया है। इस दृष्टि से चार्लट क्रोसे का इंडियन नावेल (Indisch Novellen) महत्वपूर्ण कार्य है।[40] जैनाचार्यों की जीवनी-साहित्य की दृष्टि से हर्मन जैकाबी का 'अवर डास लेवन डेस जैन मोन्स हेमचन्द्र' नामक ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

जैन इतिहास और पुरातत्व के महत्वपूर्ण अपशेषों के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। डी. मेनट ने गिरनार के जैन मन्दिरों पर लिखा है। जोरलडुबरल ने दक्षित भारत के पुरातत्व पर विचार करते हुए जैन पुरातत्त्व के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। ए. ग्यूरिनट ने जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है।[41] ग्यूरिनट का विशेष योगदान जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण करने में भी है। उन्होंने 852 जैन ग्रन्थ का परिचय अपने 'एसे आन जैन बिब्लियोग्राफी' नामक निबन्ध में दिया है। इसके बाद 'नोटस आन जैन बिब्लियोग्राफी' तथा 'सम कलेक्शन्स आफ जैन बुक्स' जैसे निबन्ध भी उन्होंने जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण के सम्बन्ध में लिखे हैं।[42] इनके पूर्व भी 1897 ई. में अर्नेस्ट ल्यूमन ने 200 हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय अपने एक लेख में दिया है।[43]

जैन साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में विन्तरनित्स का स्थान उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लगभग 150 पृष्ठों में जैन साहित्य का विवरण दिया है। उस समय उन्हें उतने ही जैन ग्रन्थ उपलब्ध थे। इस विवरण में विन्टरनित्स ने जैन कथाओं का भारत की अन्य कथाओं एवं विदेशी कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन केन्द्र :

लगभग दो सौ वर्षों तक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किया गया अध्ययन भारत एवं विदेशों में जैनविद्या के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त उपयोगी रहा है। इन विद्वानों के कार्यों एवं लगन को देखकर भारतीय विद्वान् भी जैनविद्या के अध्ययन में जुटे। परिणामस्वरूप न केवल प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाश में आये, अपितु भारतीय विद्या के अध्ययन के लिए जैनविद्या के अध्ययन की अनिवार्यता अब अनुभव की जाने लगी है। डॉ. पी.एल. वैद्या, डॉ. एच.डी. बेलणकर, डॉ. एच.एल. जैन, डॉ. ए.एन उपाध्ये, डॉ. जी.बी. तगारे, मुनिपुण्यविजय एवं मुनि जिनविजय, पं. दलसुख भाई मालवणिया आदि विद्वानों के कार्यों को इस क्षेत्र में सदा स्मरण किया जावेगा।

विदेशों में भी वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन ने जोर पकड़ा है। पूर्व जर्मनी में फ्री युनिवर्सिटी बर्लिन में प्रोफेसर डॉ. क्लोस बुहन (Klaus Bruehn) जैन लिटरेचर एण्ड माइथोलाजी, इंडियन आर्ट एण्ड इकोनोग्राफी का अध्यापन कार्य कर रहे हैं। उनके सहयोगी डॉ. सी.बी. त्रिपाठी बुद्धिस्ट-जैन लिटरेचर तथा डॉ. मोनीका जार्डन जैन लिटरेचर का अध्यापन कार्य करने में संलग्न हैं। पश्चिमी जर्मनी हमबर्ग में डॉ. एल. आल्सडार्फ स्वयं जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति पर कार्य कर रहे हैं। उनके छात्र श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन ग्रन्थों पर शोध कर रहे हैं।

प्राकृत भाषाओं का विशेष अध्ययन बेलजियम में किया जा रहा है। वहाँ पर डॉ. जे. डेल्यू. 'जैनिज्म तथा प्राकृत' पर, डॉ. एल.डी. राय 'क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर प्रो. डॉ. आर. फोहले 'क्लासिकल संस्कृत प्राकृत एण्ड इंडियन रिलीजन' पर तथा प्रो. डॉ. ए. श्चार्ये 'एंशियण्ट इंडियन लेंग्वेजेज एण्ड लिटरेचर- वैदिक, क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर अध्ययन-अनुसन्धान कर रहे हैं।[44]

इसी प्रकार पेनीसिलवानिया युनिवर्सिटी में प्रो. नार्मन ब्राउन के निर्देशन में प्राकृत तथा जैन साहित्य में शोधकार्य हुआ है। इटली में प्रो. डॉ. वितरो विसानी एवं प्रो. ओकार बोटो (Occar Botto) जैन विद्या के अध्ययन में संलग्न हैं। आस्ट्रेलिया में प्रो. ई. फ्राउल्नर वेना (E. Frauwalner Viena) जैनविद्या के विद्वान हैं। पेरिस में प्रो. डॉ. लौस रेनु (Louis Renou), रोम में डॉ. टुची (Tuchi) तथा जार्जिया (Georgia) में डॉ. वाल्टर वार्ड (Walterward) भारतीय विद्या के अध्ययन के साथ साथ जैनिज्म पर भी शोध-कार्य में संलग्न हैं।[45]

जापान में जैनविद्या का अध्ययन बौद्धधर्म के साथ चीनी एवं तिब्बतन स्रोतों के आधार पर प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक थे प्रो. जे. सुजुकी (J. Suzuki) जिन्होंने 'जैनसेक्रेड बुक्स' के नाम से (Jainakyoseiten) लगभग 250 पृष्ठ की पुस्तक लिखी। वह 1920 ई. में 'वर्ल्डस सेक्रेड बुक्स' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई।[46] सुजुकी ने 'तत्वार्थधिगम सूत्र', 'योशास्त्र' एवं 'कल्पसूत्र' का जापानी अनुवाद भी अपनी भूमिकाओं के साथ प्रकाशित किया।[47] जैनविद्या पर कार्य करने वाले दूसरे जापानी विद्वान तुहुकु (Tohuku) विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या के अध्यक्ष डॉ. ई. कनकुरा (E. Kanakura) हैं। इन्होंने सन् 1939 में प्रकाशित हिस्ट्री आफ स्प्रिचुअल सिविलाइजेनशन आफ एशियण्ट इंडिया के नवें अध्याय में जैन धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना की है। तथा 'द स्टडी आफ जैनिज्म' कृति 1940 में आपके प्रकाश में आयी। 1944 ई. में तत्त्वार्थधिगमसूत्र एवं न्यायावतार का जापानी अनुवाद भी आपने किया है।[48]

वीसवीं शताब्दी के छठे एवं सातवें दशक मे भी जैनविद्या पर महत्त्वपूर्ण कार्य जापान में हुआ है। तेशो (Taisho) विश्वविद्यालय के प्रो. एस. मत्सुनांमी (S. Matsunami) बौद्धधर्म और जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[49] 'ए स्टडी आन ध्यान इन दिगम्बर सेक्ट' (1961) 'एथिक्स आफ जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म' (1963) तथा इसिभासियाइं' (1966) एवं 'दसवेयालियसुत्त' (1968) का जापानी अनुवाद जैनविद्या पर आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।[50] सन् 1970 ई. में डा. एच. उइ (H.Ui) की पुस्तक 'स्टडी आफ इंडियन फिलासफी' प्रकाश में आयी। उसके दूसरे एवं तीसरे भाग में उन्होंने जैनधर्म के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया है।

टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. एच. नकमुरा (H. Nakamura) तथा प्रो. यूतक ओजिहारा (Yotak Ojihara) वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन में अभिरुचि रखते हैं। उनके लेखों में जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।[51] श्री अत्सुशी उनो (Atsush Uno) भी जैनविद्या के उत्साही विद्वान हैं। इन्होंने वीतरागस्तुति (हेमचन्द्र), प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, तथा सर्वदर्शनसंग्रह के तृतीय अध्याय का जापानी अनुवाद प्रस्तुत किया है। कुछ जैनधर्म सम्बन्धी लेख भी लिखे हैं। सन् 1961 में 'कर्म डॉक्ट्राइन

इन जैनिज्म' नामक पुस्तक भी आपने लिखी है।[52]

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किये गये कार्यों के इस विवरण को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बहुत से विद्वानों और उनके कार्यों का उल्लेख साधनहीनता और समय की कमी के कारण इसमें नहीं हो पाया है।[53] फिर भी पाश्चात्य विद्वानों का निरन्तर लगन, परिश्रम एवं निष्पक्ष प्रतिपादन शैली का ज्ञान इससे होता ही है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या के क्षेत्र में किये गये इस योगदान का एक परिणाम यह भी हुआ कि भारत और विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार हुआ है। अनेक विदेशी विद्वान भारत की विभिन्न संस्थाओं में तथा अनेक भारतीय विद्वान् विदेशों के विश्वविद्यालयों में जैनविद्या पर शोध-कार्य करने में संलग्न हैं।[54] विगत दो दशकों (1970 से 1990) में विदेशों में सम्पन्न जैनविद्या के अध्ययन की प्रगति एवं प्रकाशित पुस्तकों का मूल्यांकन किया जाना शेष है।

सन्दर्भ

1. Pot - The Etymological Study of Indo-European Languages (1833-36).
   Shliescher - Comparative Work in the Grammar of Indo-European Languages.
2. F. Wiesinger - Grammar Indology : Past and Present, 1969, Bombay.
3. The Indian Antiquary, Vol. 3, p. 17-21 and p. 166-168.
4. A.M. Ghatge - A Brief Sketch of Prakrit Studies : In Progress of Indic Studies, Poona, 1942.
5. Asiatic Society Monographs, Vol. 8 London, 1906.
6. Journal of the German Oriental Society, 1912.
7. Journal of the Royal Asiatic Society, 1913, p. 875-883.
8. The Indian Antiquary, 1918.
9. Journal of the Royal Asiatic Society, London, 1919.
10. Memories of the Asiatic Society of Bengal, Vol. 8. No. 2, 1924.
11. Sir Ashutosh Mukerjee Silver Jubilee Vol. 3, 1925, p. 119-141.
12. केस्टगबे डेलबुक स्मृतिग्रन्थ, स्ट्रासबर्ग, 1912-13, पृ. 211-221
13. Journal of the American Oriental Society, Vol. 32, 1912.
14. Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1912, p. 711-713.
15. F. Stegarve Jacobi, Bonn (Germany) 1926, p. 89-97.
16. Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1927, p. 848 and 1928, p. 399.

17. See - प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु. जोशी, आमुख पृ. 3-7

18. Bulletin of School of Oriental and African Studies, No. 8 p. 681-683, London, 1936.

19. Journal of the American Oriental and African Studies, No. 8, p. 681-683, London, 1936.

20. के.एम. मुन्शी स्वर्णमहोत्सव ग्रन्थ, भाग 9, पृ. 27-32

21. Bulletin of the School of Oriental and African Studies, Vol. 13, No. 2, 4.

22. Indo-Iranian Journal, Vol.1, No. 1, 1957.

23. Jourrnal of the Linguisticc Society of America, Vol. 29. No. 2, Part 1-2, April-June, 1953.

24. डी. के. शास्त्री - अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, दिल्ली, 1972

25. 'Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujrati and Marvari' - Indian Antiquary, 1914-16.

26. Indian Antiquary, Jan. 1922.

27. फेस्टगिश्रिष्ट जे. वाकरनल, पृ. 124-131, गार्टिसन, 1923

28. Bulletin of the School of London, 33, p. 169-72.

29. M. Winternitz Memorial Volume, p. 29-36, 1933.

30. डॉ. शास्त्री, वही पृ. 90-94

31. Journal of the American Oriental Society, Vol. 74. No. 1. p. 1-5, No. 3, p. 142-46.

32. Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ayarland, London, Vol. 1-2. 1954.

33. Prof. P.K. Gour *Commemoration* Vol. 1960.

34. Journal of the American Oriental Society, Vol. 79, No. 1. 1959.

35. Ibid, Vol. 81. No. 1, p. 13-21, 1961.

36. Bulletin of the Philogical Society of Calcutta, 4, 1, 1963.

37. Journal of the Linguistic Society of Japan, Vol. 42, p. 47-58, 1965.

38. German Indology - Past and Present, p. 21.

39. Bharatiya Jnanpith Patrika, Oct. 1968, p. 183.

40. The Contribution of French and German Scholars to Jain Studies.- Acharya Bhikshu Smritigranth, p. 106.

41. Ibid, D.K. Banerjee, p. 106.

42. Ibid, p. 106
43. 'वीनेर जेटिश्चिफ्रूट फुड़ी कुण्डे डेस मोर जेनलेर्ण्डस' (जर्मनी), पृ. 297-312.
44. डॉ. शास्त्री, वही, पृ. 62
45. ज्ञानपीठ पत्रिका, 1968 पृ. 183
46. Atsushi Uno- 'Jain Studies in Japan' - Jain Journal Vol. VIII, No. 2, 1973, p. 75.
47. Ibid, p. 77
48. The Voice of Ahimsa, Vol. 6. 3-4, 1956, p. 136-37.
49. Jain Journal, Oct. 1973, p. 78.
50 Ibid, p. 77.
51. Ibid.
52. 'Progress of Prakrit and Jain Studies'- Presidential address of Dr. Nathmal Titia in AIOC Varnansi, 1968.
53. See - Ghatage - Above article, and Winternitz - History of Indian Literature, Vol. II - Jain Literature.
54. जैन, राजाराम - अध्यक्षीय भाषण, प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग, अ. भा. प्राच्यविद्या सम्मेलन, धारवाड 1976.

❑❑❑

B V B PUBLIC LIBRARY

1088

PL-01963

डॉ. प्रेम सुमन जैन

जन्म : 1 अगस्त, 1942, सिहुंड़ी (जबलपुर) मध्य प्रदेश

कटनी, वाराणसी, वैशाली एवं बोधगया में संस्कृत, पालि, प्राकृत, जैन धर्म तथा भारतीय संस्कृति का विशेष अध्ययन। **'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन'** विषय पर पी-एच.डी.। अब तक 21 पुस्तकों का लेखन-सम्पादन एवं लगभग 125 शोधपत्र भी प्रकाशित।

सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष पद पर विगत 15 वर्षों से कार्यरत। देश-विदेश के विभिन्न सम्मेलनों में शोधपत्र-वाचन। 1984 में अमेरिका एवं 1990 में यूरोप-यात्रा के दौरान विश्वधर्म सम्मेलनों में जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व एवं जैनविद्या पर विभिन्न व्याख्यान सम्पन्न। सम्प्रति प्राकृत, अपभ्रंश की प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्पादन-कार्य में संलग्न।

प्राकृत-अध्ययन प्रसार संस्थान, उदयपुर के मानद निदेशक एवं त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'प्राकृतविद्या' के संस्थापक संपादक। **'प्राकृत ज्ञानभारती अवार्ड 93'** एवं 'चम्पालाल सांड साहित्य पुरुस्कार' आदि से सम्मानित।

सम्पर्क :
29, सुन्दरवास (उत्तरी)
उदयपुर 313 001 (राज.)
दूरभाष : 414565

1288

ग्रन्थ-चतुष्टय (डॉ. प्रेम सुमन जैन)

- **जैनधर्म और जीवन-मूल्य**

  श्रमणधर्म की परम्परा, अनेकान्त, समता, अहिंसा अपरिग्रह, स्वाध्याय आदि जैन धर्म के जीवन-मूल्यों पर वर्तमान सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालने वाली चिंतन प्रधान पुस्तक।

- **प्राकृत कथा-साहित्य परिशीलन**

  प्राकृत कथा साहित्य के उद्भव एवं विकास, भेद-प्रभेद, प्रतीक कथाओं, प्रतिनिधि कथा-ग्रन्थों एवं प्रमुख अभिप्रायों (Motifs) पर अभिनव सामग्री प्रस्तुत करने वाली शोधपूर्ण पुस्तक।

- **प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृति**

  भारतीय भाषाओं के विकास में प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का क्रम एवं योगदान, प्राकृत के भेद-प्रभेद, भारतीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध, प्रमुख भाषाविदों एवं ग्रन्थकारों का अवदान, सांस्कृतिक मूल्यांकन और लोक संस्कृति को उजागर करने वाली पुस्तक।

- **जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका**

  जैन साहित्य का ऐतिहासिक एवं सामाजिक महत्त्व, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, संस्कृत की जैन रचनाओं और कवियों तथा विभिन्न ग्रन्थों के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने वाली पुस्तक।

संघी प्रकाशन, जयपुर